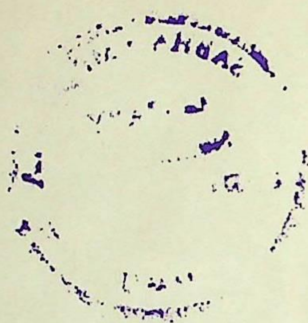
আদরণীয় ভাই [illegible]

[illegible]

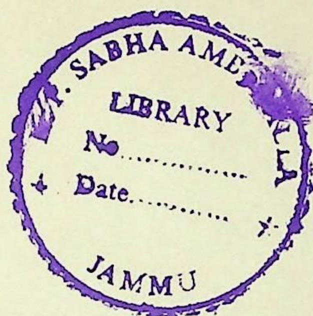
[illegible]

जाल



स्वर्ण प्रकाशन, जम्मू ।

जाल



डा० राजकुमार

प्रथम संस्करण
जनवरी 1990

प्रकाशक :
स्वर्ण प्रकाशन
जम्मू ।

मुद्रक :
सुदेश प्रिंटर्ज
रिहाड़ी कालोनी
जम्मू ।

आवरण :
श्री ओ. पी. शम
'सारथी'

मूल्य : 35 रुपये

JAAL
SHORT STORIES
Dr. Raj Kumar

स्वर्गीय भापा जी

श्री शंकरदास जी 'कमर' ध्यानपुरी

को

समर्पित

‘बात बोलेगी
हम नहीं’

अनुक्रम

प्यास

नारायण ने किवाड़ खोला। भीतर अंधेरे की घनी परतें थीं। सिग्रेट का लम्बा कश खींच कर वह आगे बढ़ा। सुलगती रोशनी में स्विच ढूंढा फिर क्लिक की ध्वनि हुई और अंधेरे की परतें झपाक-सी जल उठीं।

पूरे दो महीने बाद वह लौटा था, खोया-खोया-सा महानगर का नशा अभी उतरा नहीं था, फ्लैट उसे मनहूस दिख रहा था...दीवारों को समेटती लकीरों से बने चार कोने...उन्हीं कोनों में घिरा फर्श... फर्श के समानान्तर छत और छत के नीचे गुमसुम रोशनी; पीली बीमार-सी! कोफ्त हो रही थी उसे और ज़हन में महानगर की फ्लड लाइट्स उमड़ रही थीं।

दूध की झाग जैसी सफेद झक्क रोशनी उसे आकर्षित करती रही है। उसका बचपन दिल्ली में बीता है...मेले-त्योहारों के दिन रोशनी से जगमगाते बाजारों के अनेक दृश्य अभी भी उसके ज़हन में परत-दर-परत अंकित हैं। बस युवा हुआ था तो कई सांस्कृतिक कार्यक्रमों में कभी दर्शक के रूप में तो कभी प्रतियोगी के रूप में शरीक हुआ था। यह शिरकत उसकी रग-रग में समाती रही थी, इसी कारण उसने म्यूज़िक

में एम० ए० कर लिया था ताकि ग्लैमर की दुनिया से जुड़ा रहे।

पर यह जुड़ाव अधिक दिन न रहा, रिटायर हो कर पिता गांव को लौट गए। परिवार आर्थिक संकटों से ग्रस्त होने लगा तो म्यूजिक का एम० ए० ही काम आया। कस्बे के सरकारी कालिज में, देखते-देखते उसकी कला-साधना प्रोफ़ैशन में बदल गई...

पहले-पहल उसे अपने आप पर कोफ्त हुई थी फिर लगा था कि कला की कद्र कस्बों में ही है...महानगर तो ग्लैमर की दुनिया-मात्र है...तब उसे ग्लानि भी हुई कि अब तक वह ग्लैमर के प्रति आकर्षित रहा।

लेकिन कस्बे में रहते हुए जब भी उसकी चेतना कुण्ठित होने लगती, भीतर का कलाकार पहचान की दुहाई देता, वह व्याकुल हो उठता। तब उसे लगता महानगर ही संस्कृति के केन्द्र हैं, वहीं रहकर अपनी पहचान बनाई जा सकती है... यश और धन-दोनों, वहीं खुले-हाथों समेटे जा सकते हैं...कई दफ़ा मन हुआ कि नौकरी छोड़कर दिल्ली चला जाए—कुछ दिन फ्रीलांसिंग ही सही...शायद कहीं दाब लग जाए। पर उसे मन को टालना पड़ा...घर की हालत ऐसी थी कि उसके वेतन के बिना भूखे मरने की नौबत आ जाती। अजीब-सी कशमकश में फंसा रहा है वह, पिछले वर्ष से पिता बीमार थे, डाक्टर ने कहा था 'किसी हिल स्टेशन पर ले जाओ हवा पानी बदलेगा तो तंदरुस्त हो जाएंगे। छुट्टियों से पहले जब उनका पत्र आया तो उसे राहत मिली...अब वे ठीक थे, लिखा था; 'फिक्र न करो, मैं धीरे-धीरे ठीक हो रहा हूं।'

पिता के पत्र से वह दुविधा मुक्त हुआ था और छुट्टियां दिल्ली में व्यतीत करने का निश्चय कर गया था, शायद फ्रीलांसिंग में कुछ मिल

जाए।'

फ्लैट में लौट कर उसने हाथ-मुंह धोने के लिए जूते खोले ही थे कि सामने टेबुल पर पड़ा पिता का पत्र दिख गया। पत्र देखते ही वह अजीब अपराध बोध से घिर उठा, महानगर का नशा धीरे-धीरे उतरने लगा और वह पिता की चिंता से चिंतित हो उठा...उन्हें तो वह पत्र का उत्तर भी नहीं लिख सका था—छुट्टियों में वह घर भी तो नहीं गया। वह हाथ-मुंह धोना भूल गया।

पर चाह कर भी वह पिता को पत्र नहीं लिख पा रहा था। मन में राजधानी के काफ़ी-हाऊसों और पार्कों के दृश्य उमड़-घुमड़ रहे थे ...बरसों बाद राजधानी के काफी-हाऊस में घुस कर उसे घबराहट होने लगी थी। अजनबियत मन में घर कर रही थी क्षण भर के लिए, वह ठिठक गया था...'अपरिचय भरे माहौल में बैठकर क्या करेगा वह। मन झिझक-सा गया था, फिर उसकी व्यवहारिक बुद्धि सजग हो गई थी। ...बरसों का अध्यापकीय तजुर्बा यहां काम आया। शब्दों का काफी बड़ा जखीरा है उसके पास। फिर शहर चाहे कोई भी हो, लोग किसी भी स्तर के हों; जीवन-सम्बंधी समस्याएं तो एक-जैसी होती हैं, इन समस्याओं का हल इतना सहज और सरल नहीं कि बहस ही न हो सके... बस बहस में उलझ जाओ, अपने-आप परिचय हो जायेगा।' उसने सोचा तो मन हल्का हो गया था, अजनबियत का दौरा भी उतर गया था। सहज मुस्कान लिए वह आगे बढ़ा था और अकेली बैठी एक बुढ़िया के निकट जा बैठा था।

हाल में ज्यादा भीड़ नहीं थी। कुछ जोड़े टेबुल-लाइट्स में सिर झुकाए बतिया रहे थे। स्टीरियो की संगीत लहरियां दीवारों से टकरा कर गूंज रही थीं...अकेले बैठे लोग भावविभोर हुए जा रहे थे।

वह आंखें मूंदे संगीत में खो गया था। हल्की धुन उसके मन पर हावं होती जा रही थी। तन की सुध से मुक्त होकर वह बैठा था और म: का तनाव रेशा-रेशा होकर बिखर रहा था...

अचानक माथे पर नर्म और ठण्डा-सा स्पर्श महसूस कर उसं आंखें खोलीं...संगीत में डूबे हुए ही उसका सिर टेबुल पर आ झुक था और संगीत में डूबी बुढ़िया के नर्म-गदैले हाथों पर आ टिका था...

वह खिसिया-सा गया था। बुढ़िया मुस्कराई थी 'धुन अच्छी यंगमैन'।

'यैस मैडम, मैं डूब-सा गया था'।

बुढ़िया मुस्करा कर दुबारा आंखें मूंद चुकी थी। उसे लग था, कोई मैत्री-गंध उसके गिर्द लिपटती जा रही है 'एक ही छत के नीं ...एक ही मकसद से आए लोग...!' शायद यही गंध महसूस कर काफी-हाऊस में आ बैठते हैं।

वह पुनः संगीत लहरियों में डूबने-उतराने लगा था। प्यालों चाय और काफी ढल रही थी...प्याले खनक रहे थे...चेहरों की भाव मुद्राएं संगीत के साथ-साथ बदल रही थीं। मस्ती में स्पंदित वातावरए अपने-आप ही में डूबा हुआ था।

संगीत की धुन बदली तो वह उठा। बुढ़िया भी सजग हो ग थी और कंधों से सरक गई साड़ी को ठीक कर रही थी। उसने आत्मीयत से भरपूर अभिवादन किया और बाहर की ओर चल पड़ा।

काफी-हाऊस से निकल कर वह बाजार में पहुंचा तो भीड़ ब गई थी। मोटरें, कारें, तांगे, रिक्शे एक दूसरे से सटे कतारों में च रहे थे...कोई थोड़ा गफ़लत में पड़ा कि मरा। ...बेहूदा तनाव, अपरिच कोलाहल...भीड़ के रेले में फंसा आदमी क्या पता कब कहां पहुंच जाए

इस भीड़ को देखते-देखते वह समझ गया था कि सड़क पर दिखने वाला अनजान चेहरा भी क्यों काफी हाऊस में पूर्व परिचित-सा मुखर हो उठता है। क्यों वहां बैठे पढ़े लिखे दिखते लोग सिग्रेट के धुंए में आंखें सिकोड़-सिकोड़ कर कुछ सोचते रहते हैं, क्यों दो चार जान पहचान के मिल कर काफी-हाऊस में गोष्ठियां जमा लेते हैं?

अगले दिन जब वह काफी-हाऊस पहुंचा तो बुढ़िया वहीं मिली। उसे देखते ही हाथ उठा कर बुला लिया, अभिवादन के साथ उसने कुर्सी भी उसकी तरफ सरका दी और मैत्रीभाव से हाथ भी बढ़ा दिया।

पिछले दिन वाला मामूली-सा अजनबीपन भी नहीं रह गया था आज। उसे लगा था, बुढ़िया में बदलाव आ गया है, आज उसने चेहरे को विशेष ढंग से लीपा है। इत्र की महक बिखर रही है उसके निकट से, कल वाला बे-रौनक चेहरा खिला-खिला-सा है।

स्टीरियो पर नयी धुनें बज रही थीं। कुछ देर की बातचीत के बाद बुढ़िया संगीत लहरियों में खो गई तो वह दीवारों पर टंगी पेंटिंग्ज और म्यूरिल्ज को देखने लगा था...आड़े तिरछे अनेक चेहरे... भीड़ भरे बाज़ार...कहीं कहीं लैंडस्केप्स...कुछ बड़े-बड़े धब्बे और रंगों के सीधे-तिरछे स्ट्रोक्स...और उन सभी पेंटिंग्ज़ के पीछे कंकरीली दीवार ...कंकड़ ही कंकड़...सीमेंट में धोंपे हुए......रंग-बिरंगे कंकड़ों का जंगल-सा उभर आया था दीवार के नाम से।

उसे ताज्जुब हुआ, पिछले रोज वह यह सब कुछ क्यों नहीं देख सका...या देख कर भी समझ नहीं पाया था वह। ये सारी पेंटिंग्ज और कंकड़-पत्थर का जंगल आदमी को तनाव-मुक्त करता होगा ...बाहर भीतर एक जैसा ही सड़क-जाल एक जैसा ही तनाव-जाल क्या एकरस जिंदगी है यह। वह ऊब गया था।

तब उसने संगीत में खोयी बुढ़िया के हाथ को थपक दिया... 'चलो किसी पार्क में घूमते हैं, बोर हो गया मैं तो...... ।

बुढ़िया ने क्षण भर के लिए हैरानी से आंखें फैलाई थीं, फिर मुस्कराई । उसकी आंखों में अब आत्मीयता तैर रही थी, "आंखें मूंदकर धुन सुनो...यंगमैन ! पार्कों में भी चैन नहीं, सड़कों पर भी यही हाल ...आफिस में जाओ यही धींगा मुश्ती । घर में भी अकेला बैठ कर ऊबना पड़े तो यहीं बैठो...आंखें मूंद लो...धुनें पहले बाहर से सुनाई पड़ती हैं...तन्मय हो जाओ तो लगता है भीतर ही भीतर कुछ बज रहा है...भीतर ही भीतर नाच रहा है...भीतर ही एक दुनिया समायी है जो बाहर की दुनिया से बहुत भिन्न है...बिल्कुल निजी दुनिया जिसमें कुछ भी पराया नहीं...बैठो ! एक दफ़ा अच्छी तरह सुनो तो सही ।'

पर वह नहीं बैठ सका था । तब बुढ़िया भी आत्मीयता की रक्षा के लिए उसके साथ निकल पड़ी थी ।

देर तक वे टिविया हास्पिटल के पार्कों में घूमते रहे । वह हल्का-हल्का महसूस कर रहा था और महकते फूलों के गिर्द चहकते और लुक-छिपोवल खेलते बच्चों के खेल में भागीदार हो गया था । दूर खड़ी बुढ़िया उसकी उछलकूद को देख मुस्कराती रही थी । जब वह उसके पास लौटा तो उसने कहा था, "कल दोपहर को काफी-हाऊस में मिलना, महरौली चलेंगे ।"

अगले रोज़ वह उससे पहले काफी-हाऊस पहुंच गया था । पुरानी धुन सुन कर ऊब भी गया था । मन में कुलबुलाती ऊब के कारण वातावरण बोझिल लग रहा था । उसे, कल वाली मीठी धुनें भी अटपटी और तीखी लग रही थीं...घुटन-सी महसूस हो रही थी वहां बैठे-बैठे ।

जब वह कुतुब-मीनार पर चढ़ा तो जोश से भरा हुआ था। दूर तक फैले क्षितिज को देखकर उसका मन पक्षियों की तरह उड़ने लगा था...दूर तक फैले नीलाभ आकाश के नीचे लहराते हरे खेत...वह काफी खुला-खुला महसूस करने लगा था।

उसने नीचे झांक कर देखा तो बौने-बौने लोग देख कर वह गुलीवर्ज़-लोक में पहुंच गया था.. बहुत छोटी-छोटी लड़कियां...और जमींदोज झुके बूढ़े...देर तक उन्हें देख-देख कर हंसता रहा।

बुढ़िया ने नीचे से वेव किया तो वह उतर पड़ा...एक...... दो–तीन–चार–मंजिलें गिनता हुआ वह मीनार के चक्कर लगाता रहा और देखता रहा था कि नीचे के बौने इन्च-दर-इन्च बड़े हो रहे थे। नीचे पहुंच कर वह बुढ़िया के पास पहुंचा। काफी प्रसन्न था वह।

बुढ़िया ने पूछा, "कहो कैसा लगा कुतुब मीनार ?"

'बहुत बढ़िया। कमाल कर दिया है ऐबक साहिब ने !" फिर राज़दार की तरह बुढ़िया के कान में बोला था, "मुझे लगता है...ऐबक दुबारा जन्मा है, मुझे भी तो एक जगह चैन नहीं, लगता है ऐबक भी जब शहर से ऊबता होगा तो मीनार से गांवों का नज़ारा देखता होगा जब वहां से ऊबता होगा तो दरबार लगा लेता होगा।"

"और...और जब घर से ऊबता होगा तो...?" बुढ़िया ने हंसते-हंसते पूछा था और फिर खुद ही बोली, "मेरी तरह इस उम्र में झक्ख मारता होगा।" पर उसने तो नींव ही डाली थी मीनार की...।

"महत्व तो नींव का ही होता है।" उसने ज़ोरदार ठहाका लगाया था और लोग उनकी ओर देखने लगे थे...। बुढ़िया ने उसकी बांह में बांह डाल दी थी...मुस्कराते हुए, जैसे कोई नव-दम्पति मचलता

हुआ चहलकदमी कर रहा हो। और उन्हें देख सामने बैठी लड़की मुंह में दुपट्टा ठूंस कर हंसती रही थी। पर वे दोनों आश्वस्त-से चलते रहे थे।

छुट्टियां खत्म होने को थीं तो वे फिर मिले थे। उसने लौटने के लिए कहा था तो बुढ़िया उदास हो गई थी, देर तक वह चुप बैठी रही तो वह करुण हो उठा था, "बताओ न, बात क्या है!" उसने हाथ थपकते हुए कहा था तो बुढ़िया ने चेहरा उठाया, "तुम कुछ दिन और नहीं रुक सकते ?"

"नहीं, मैं तो ऊब गया हूं शहर से। यहां फ्री-लांसिंग के लिए आना चाहता था पर अब नहीं आऊंगा।"

"मैं भी तो ऊब गई हूं शहर से! घर से भी, आफिस से भी, बिलावजह छुट्टी मार जाती हूं कभी-कभी...काफी-हाऊस में बैठने के लोभ में...।

उसने देखा, बुढ़िया की आँखों में धुंधला-सा कुछ उभर आया है, उसकी आंखें हू-ब-हू उसके पिता की आंखों जैसी हो उठी हैं...बिल्कुल वही अकेला-पन स्वीकारती आंखें!

उसने बुढ़िया के हाथ को थपकाया, "दिल छोटा नहीं करते, शहर की अनेक मलामतों में ऊब भी तो एक है..."

"तुम्हें पता है मेरा एक बेटा है, वहू है, उनका बच्चा है, पर मेरा कोई नहीं..."

"क्या मतलब!"

"बेटे ने अपनी मर्जी से शादी की है...दोनों कमाते हैं...रात गए

लौटते हैं। राहुल को होस्टल में डाल रखा है...कौन जहमत उठाए 'कह कर बहू ने ग्राप्रेशन करा लिया है...न मैटर्निटी लीव लो न घर में रहो ! मैं घर में रहूं भी पर दीवारें खाने को दौड़ती हैं...अब तुम भी चले जाओगे तो काफी-हाऊस का ही सहारा रह जाएगा।"

और वह देर तक बुढ़िया की आंखों में ताकता रहा था...हू-ब-हू पिता की आंखों जैसी आंखें... । कैसे बहलाए इन्हें...दुविधा में ही वह बुढ़िया के हाथ को सहलाता रह गया था...स्पर्श दोनों के भीतर तक उतरते रहे थे...मन की अवरुद्ध तहें खुलती गई थीं और आंखों की धुंध तरल होकर बरस गई थी...देखते ही देखते बुढ़िया की आंखों में एक नयी ललक थी...एक नयी उमंग से भर गई थीं उसकी आंखें।

तभी उसे लगा पिता को ऐसे ही स्पर्शों की जरूरत है...ये स्याह अक्षर उन्हें बहला नहीं सकेंगे...शब्द जब व्यर्थ पड़ जाते हैं तो स्पर्श ही काम आते हैं—स्नेहिल स्पर्श, स्निग्ध सह-अनुभूति...भीतर के ठण्डेपन को पिघलाती हुई... ।

लगा जैसे उसका भीतर तक इस कौंध से जगमगा उठा है और कमरे की पीली बीमार रौशनी और अधिक न-काफी हो गई है।

उसने पिता को लिखा अधूरा पत्र फाड़ कर फेंक दिया। 'सुबह पहली बस पकड़नी होगी...सोया नहीं तो साढ़े चार बजे बस अड्डे नहीं पहुंच सकूंगा' सोच कर, उसने बिना हाथ मुंह धोए ही बत्ती बुझा दी।



चिट्ठी

"शाम तक जगह खाली कर दो...नहीं तो रोलर चलेगा... सरकारी ज़मीन हड़प कर इस आर्डर की धौंस किसी और को दिखाना।" उसने खोखे वालों को धमकाया और साथ आए थानेदार को कहा, "नहीं उठाते तो हवालात में ठोंक दो...जरूरत पड़े तो और फोर्स मंगवा लो...।

थानेदार को हिदायत देकर वह आगे बढ़ा ही था कि उसे कुछ बूढ़े दुकानदारों ने घेर लिया, "सरकार गरीब हत्या न करो...बच्चे भूखों मर जाएंगे..." वे चिरौरी कर रहे थे परन्तु उसका पारा चढ़ता जा रहा था। जब वह अंटशंट बकता ही रहा तो कुछ युवकों का खून खौल उठा। ...उन्होंने उसके खिलाफ नारे लगाना शुरू कर दिया।

देखते ही देखते बस अड्डा नारों से गूंजने लगा...लोगों का सैलाब उमड़ने लगा। युवक रोके न रुकते थे...नारों और जनता का सैलाब उसे घेरता जा रहा था। वह हड़बड़ा कर पीछे हट रहा था।

उसकी स्थिति से सतर्क होकर थानेदार जनता को शान्त करने

की भरपूर कोशिश कर रहा था...लेकिन वह भी बेबस हो उठा था।

उसे लगा थानेदार ढीला है...कुछ अपने खिलाफ नारों और कुछ बढ़ती हुई भीड़ से आतंकित होकर वह गुस्से से बिफर उठा... "करो स्सालों को अन्दर...ऐसे न मानेंगे... ।"

अमन को खतरा हो सकता था।

...बौखलाया हुआ-सा वह बस अडडे के टैलीफोन बूथ में घुस गया। लोग अभी भी नारे लगा रहे थे।

आध घण्टे में ही पी० डब्ल्यू० डी० के ट्रक में से मज़दूर उतरने लगे...हाथों में गैंतियां, फावड़े, टोकरियां, कुल्हाड़ियां...वे एक कतार में खड़े होने लगे...पुलिस की भी दो जीपें आ गईं...अड्डे के खोखा बाजार का माहौल दहशत ज़दा होता गया...। युवक नारेबाज़ी पर डटे हुए थे, न गाली गलौज़ की परवाह न पुलिस की ठोकरों की...उनका क्रोध फन फना रहा था।

जब वे पुलिस की गिरफ्त में छटपटाने लगे तो मज़दूरों ने काम आरम्भ किया। उनकी कुल्हाड़ियां और गैंतियां लकड़ी के बने खोखों पर पड़ने लगीं। मात्र बूढ़े दुकानदार ही वहां रह गए थे। गाली-गलौज़ और ठोकरों की परवाह किए बगैर वे जूझने लगे थे। कभी मज़दूरों की गैंतियां पकड़ते तो कभी सिपाहियों की टांगें पकड़ लेते...उनके बूढ़े जिस्मों में बेपनाह ताकत आ गई थी। सिपाही उन्हें घसीट कर खोखों से बाहर खींचते...धक्के मार कर एक तरफ करते...परन्तु वे बौखलाई आंधी की तरफ घुमड़ कर दुबारा भीतर पहुंच जाते...गैंतियों के बिल्कुल सामने... ।

मज़दूर भी पशोपेश में थे किसी के गैंती पड़ गई तो...। उन्हें धकेल कर हटाया जाता तो मजदूर के हाथों की गैंती कुछ ज्यादा ही ज़ोर और गति से चलने लगती...जैसे वह भी आज ही अपनी दिहाड़ी हलाल करने पर तुल गया हो।

गैंतियों की...ठक-ठक...और कुल्हाड़ियों की धच्च-धच्च से बस स्टैंड गूंज रहा था। फ्रूट पेटी की लकड़ी से बने खोखों की दीवार पर भारी-भारी गैंतियां.. कुल्हाड़ियां धच्च...धच्च पड़ती ...जैसे बूढ़े शरीर की पसलियां टूट रहीं हों...। रात होने से पहले ही वे सौ सवा सौ खोखों को मलियामेट कर देने पर उतारू हो रहे थे।

विवश होकर दुकानदारों ने सामान को सुरक्षित स्थान पर ले जाना आरम्भ किया। यहां भी एक होड़ सी थी, जिसमें सभी हलकान हुए जा रहे थे। छप्परों की टीनें, वल्लियां, ईंट, पत्थर, बोर्ड और लकड़ी के ढेर लगाए जा रहे थे। अब तो उनका एक ही लक्ष्य था—कीमती सामानों को जैसे-कैसे बचा लो...बस !

अड्डे पर अनेक रेहड़ी मजदूर इकट्ठे हो गए थे। अड्डे के कुलियों ने भी सवारियों के सामान को छोड़ इसी ओर मुख कर लिया था। मुंह मुलाहजा भुला कर मुंहमांगी मज़दूरी...कौन छोड़ता ! लग रहा था सारा बसस्टैंड मज़दूरों-कुलियों की बस्ती हो...लोगों ने तो अपने परिवार तक झोंक दिए थे ढुलवाई...चुकवाई में...

उसने भी पहले कीमती सामान ही समेटा...फ्रिज़, पंखे, मिक्सियां, क्राकरी, कुल्फी की पेटियां, आईस-क्रीम के सिलेंडर, सनमाइका लगे कांऊटर, मेज़, कुर्सियां, स्टोव, बर्तन और रसद...न जाने क्या--२

वह रेहड़ियों पर लदवा रहा था। वह जान चुका था कि पुराना मुंह मुलाहजा बेकार है।

वह पुलिस के सामने नहीं पड़ा...बल्कि जलती भट्ठी में पानी डाल कर अलग हो गया...अब पुलिस मिठाइयों पर टूट पड़ी थी...कुछ मुंह में...कुछ पैंट-कमीजों की जेबों में...यहां तक कि बनियानों में भी भर रही थी। मज़दूर भी खीसें निपोरते हुए सिपाही को हवलदार कह-कह कर मिठाई का ईनाम बटोर रहे थे...भुक्खड़ों की इस छीना झपटी से उसे अच्छा सामान बचा लेने का मौका मिल गया था और वह...इस मौके का पूरा-पूरा लाभ उठा लेना चाहता था।

पुलिस पार्टी अगले खोखों की ओर बढ़ी तो उसने पुराने तोड़े गए बैंचों, काउंटरों को निकलवा कर सड़क से दूर खाली पड़ी ज़मीन पर ढेर लगवा दिया। वह दुकान से बाहर आ गया था और इक्का-दुक्का सिपाही मज़दूरों के साथ मिलकर दुकान का छप्पर गिरवा रहा था... साठ-पैंसठ फुट लम्बी चौड़ी दुकान का छप्पर गिरवाने में वक्त तो लगता ही है। इस बीच वह छत की टीनें, लकड़ी, बल्लियां, बोर्ड इक्ट्ठे करवाता रहा।

उसकी आंखें तर हो गई थी और चेहरा पीला पड़ गया था।

काठ कठम्बर ठिकाने लगा तो उसे बेटे की चिन्ता सताने लगी, 'अभी बच्चा ही तो है...उसे ढाढस दे आऊं...' सोचकर वह थाने की ओर चल पड़ा।

सीखचों के पीछे निरीह-सा खड़ा बेटा उसे भरी-भरी आंखों से देख रहा था। उसके हृदय में हूक-सी उठ कर रह गई...वह खुद भी तो भीतर तक दरक गया था। बेटे के हाथों को चूमते हुए उसने ढाढस

बंधाया, "तू अकेला नहीं है, यहां और लोग भी हैं...अमन के नाम पर सभी को होड़ रखा है... ।"

बेटा चुप रहा तो उसने सिर उठा कर उसे देखा, "घबराता क्यों है तू...अपने हक के लिए ऊंचा बोला है बस...कोई डाका तो नहीं डाला !" फिर वह बेटे के हाथ को थपकने लगा, "हम आदमी हैं... मिट्टी का ढेला नहीं...मसला और फैंक दिया ।"

वहां से हटने से पहले उसने कहा, दो तीन दिन तो लगेंगे ही... जमानत...सैशन कोर्ट में ही होगी...मैं बन्दोबस्त कर रहा हूं... अभी तो सामान बाहर पड़ा है...कल तक शैड बनवा कर संभाल लूंगा... मजदूर भी तो नहीं मिल रहे... सारा बाज़ार गिरवा दिया है कमबख्त ने ।"

वहां से हटकर वह पाली, बंते, रामे, बिल्ले, मोहने और जो-जो भी होड़े हुए थे सभी को सान्त्वना देता रहा, "यह दुःख सांझा है, परस्पर मेल से ही सहना होगा...परसी और मुन्शी को जमानत के लिये भेज रहा हूं। यहां के हालात मैं खुद देख लूंगा ।"

उनसे विदा लेकर वह बाहर निकला तो मन हुआ कि सर्किल पुलिस अफसर से मिल लिया जाए, 'दुकान पर बैठता-उठता रहा है, शायद कोई नेक सलाह दे दे ।' सोच कर वह उसी ओर चल पड़ा । उसने गलियारा पार किया परन्तु ठिठक कर रह गया । भीतर उसी का नाम लेकर बात चल रही थी, "साला काबू ही नहीं आया... कागज़ों पर बेटे का नाम निकला... नहीं तो इसकी नेता-गीरी निकाल देता... चीफ मिनिस्टर का आर्डर दिखा रहा था... चोर उच्चका... टोपी डाल कर चीफ मिनिस्टर का सगा बना फिरता है... बीवी की सलवार में पिरो दे... बीस... नाड़ा बना कर... साली की सलवार खिसकी ही रहती

है... ।

और अधिक न सुन सका वह । गुस्से और भय से उसका गला सूख रहा था...उसे लगा जैसे पैरों की ओर से नाड़ियां खींची जा रही हों । भय से थर-थराता हुआ वह बाहर निकल आया ।

पुलिस और मजदूर अभी काम पर ही थे । चीख पुकार और गाली गलौज़ से चारों ओर दहशत भरी हुई थी । दफ्तरों से लौटे बाबू लोग भी अब वहीं जमा हो गए थे । झुण्डों में इकट्ठे हुए वे सामाजिक हो उठे थे ।...तीन चौथाई खोखे साफ़ हो गए थे और वे वहीं खड़े-खड़े चर्चा कर रहे थे...

—शहर के चेहरे पर फोड़ा था यह बाज़ार—

—बाप की जागीर समझ कर छप्पर पर छप्पर डाले जा रहे थे—हरामी...

—अड्डे की सूरत ही बिगाड़ दी थी, इन्होंने—

—हमेशा एक्सीडेंट का अंदेशा रहता था...

जितने मुंह उतनी ही बातें !

तभी इस विरोधी चर्चा ने नया मोड़ ले लिया—

—भैया यह तो सभी शहरों की समस्या है...यहां भी शहर से बाहर अड्डे बने हैं, यात्रियों को बारिश, धूप, सर्दी से बचने के लिए कोई शैड तक नहीं बना...पीने के लिए पानी तक नहीं...मुझे तो लगता है ये खोखे सुविधापूर्ण ही थे.. बस के इंतज़ार में आदमी बैठ तो जाता था...देखना अब इस सपाट सड़क पर धूप में बच्चे कैसे बिलबिलाते हैं...जुलाई-अगस्त की धूप और बारिश दोनों ही जानलेवा होती हैं...

—परन्तु जगह की खूबसूरती... ?

—छोड़ो यार, पेट खाली हो तो सूरत किसको दीखती है... ये सभी पढ़े-लिखे हैं कोई बी० ए० तो कोई एम० ए०...नौकरी नहीं मिली तो दुकानदारी ही सही...रोटी तो कमा कर ही मिलती है न ...और फिर सौ सवा-सौ कुनबों को घण्टे भर में बरबाद कर देना कहां का न्याय है...खूबसूरती इतनी ही प्यारी थी तो खोखे बनने ही क्यों दिए... ।

—मुझे तो लगता है पालिटिक्स के शिकार है ये सभी—

—वाह पालिटिक्स से क्या मतलब इनका...

—क्यों वोट का ही तो युग है...एक्स-एम० एल० ए० इनका प्रेजीडैंट बनना चाहता होगा ।

—बकवास है यह सब...उसे इन्हीं जनखों का प्रेजीडैंट बनना है...और संस्थाएं कम हैं यहां । इन्होंने सरकारी जमीन हड़पी थी... एक न एक दिन तो खाली होनी ही थी—

—क्या उसने नहीं हड़पी सरकारी ज़मीन...पक्की कोठी बनवा ली है...यह तो इसकी किस्मत कि विरोधी पार्टी का एम० एल० ए० नहीं रहा इस क्षेत्र से...नहीं तो...मुझे बताओ...कौन सा काम किया है इसने जनहित में...थर्ड डिवीज़नर बीवी को प्रोफेसर लगवा लिया...जबकि फर्स्ट डिवीज़नर मेरा भाई अभी भी बेकार है...एक बगीचा भी तो हड़प लिया है इसने...।"

बाबुओं के पास से निकलते हुए उसके कान खड़े हो गए थे। उसे झटका-सा लगा, वह उनकी चर्चा की तह में पहुंच गया। और हफ्ता पहले की घटना याद हो आई।

एक्स-एम० एल० ए० दुकान में आकर बैठा था, म्यूनिसिपैलिटी के इलैक्शन को लेकर बात चल पड़ी तो बढ़ते बढ़ते वोट बैंक्स टटोले जाने लगे ...खोखे वालों के सौ-सवा-सौ परिवारों को तो वह जेब में ही समझ बैठा था...इसी बात पर खटपट हो गई...

...अधिक सोचने का वक्त नहीं था। कुल्हाड़ियों की धच्च-धच्च उसके कानों में गर्म पारे की तरह उतर रहीं थी। ...ठोकरें मार-मार कर शायद पुलिस का जी भर गया था परन्तु गाली-गलौज़ अभी चल रहा था...रोना-चीखना भी उसी लय पर कम होता जा रहा था।

यूनियन के वाइस प्रैजीडैंट मुन्शी का खोखा कुलहाड़ियों की लपेट में आ गया था...सिपाही उसका सामान उठा-उठा कर फैंके जा रहे थे। वह उनकी लपेट में आने से बच रहा था कि एक सिपाही ने उसको जाकेट से पकड़ कर झटक दिया, "तू भी दिखा रहा था न चीफ मिनिस्टर का आर्डर...बाप की जागीर समझ रखी है न तुमने...हट जा आगे से...नहीं तो पसलियां तोड़ दूंगा तेरी...।"

बेचारे का उम्र खाया शरीर झुलार खा कर गिरने ही वाला था कि उसने संभाल लिया, "छोड़ मुन्शी...करने दो इन्हें अपने मन की...बाद में निबट लेंगे...।" छूट-छूट जा रहे मुन्शी को वह जबरदस्ती एक ओर ले गया।

उसके भीतर की दरकन में एक्स-एम० एल० ए० का चेहरा छिप-छिपौवल खेल रहा था। उससे रहा नहीं गया, मुन्शी को एक ओर ले जाते हुए उसने कहा, "यह तो 'एक्स' की ही करामात है... चीफ मिनिस्टर से मिलना होगा...ऊपर से खिचवाऊंगा बच्चू को... पहले तो लड़कों को छुड़वाना होगा।"

अब उसके भीतर की दरकन गुस्से से पूर हो गई थी और 'एक्स' का चेहरा उसमें भिचने लगा था, उसकी मुट्ठियां भिच गईं— "सौ

परिवारों को उजाड़ कर वह सिटी-फादर बन जाएगा? वड़ा लीडर बना फिरता है...कुत्ता तो भौंकता नहीं इसके हक में। मैं भी देख लूंगा इसे...ब्रिटिश सरकार के खिलाफ लड़ा हूं...वकालत फेल होने पर लीडर नहीं बना...

काम की गति वैसी ही तेज थी, लगता था एकाध दिन में जगह समतल कर रोड़ी बिछा दी जाएगी। सड़क के आर-पार वही पुराना माहौल पुन: जीवित हो उठेगा, जून की कड़कती धूप और मिट्टी भरी आंधी में सिर छिपाने के लिए जगह नहीं रह जाएगी।

उसे बच्चों की बिलबिलाहट और प्यास से मुरझाई स्त्रियों के चेहरे याद आ गए। पहले-पहल उसी ने खोखा बनाया था फिर तो बाजार बन निकला था...खूब चहल-पहल रहने लगी थी।

...तभी खोखों के विरुद्ध आवाजें उठने लगी थीं...परन्तु कौन उठाता इन्हें...नेता और अफसर इन्हीं में बैठ कर बस का इंतजार कर लेते थे... राजनीति पर खूब बहस होती...बीच-बीच नेताओं से छोटा-मोटा काम भी जनता करवा लेती थी...'

सोचते-सोचते उसे लगा जैसे रोलर से उसके दस सालों के जीवन को ही रौंद दिया गया हो, उसे पसलियों के चटखने की आवाज सुनाई पड़ने लगी। पुलिस के बूटों की ठक-ठक...खोखों की पुरानी लकड़ी पर पड़ी गैंतियों की धच्च-धच्च...उसके कानों में बजने लगी... भरी-भरी आंखों से उसने सूनी पड़ी सड़क को अन्त तक देखा...फिर न जाने उसे क्या सूझी कि वह आगे बढ़ने लगा...चलता रहा.. आगे ...आगे...जिलाधीश की कोठी तक...

लौट कर मुन्शी को कागज दिखाते हुए, उसने कहा," मैं जिलाधीश

के पास गया था...राजधानी से लौटे ही थे...टैलीफोन पर ही उन्होंने तहकीकात की...लड़कों के नाम अभी परचा कटा नहीं था...उन्होंने छुड़वा दिया सभी को...'एक्स' को तो खूब लताड़ा...टैलीफोन पर ही तहसीलदार और एस० डी० ओ० से भी बात की...फिर बोले...देखो भाई जमीन तो पी० डब्ल्यू० डी० की है...एस० डी० ओ० कानून से बाहर तो गया नहीं...खैर, जब तक दुकानें तैयार नहीं होतीं...तब तक ...कुछ न कुछ तो करना ही होगा...फिर मुस्कराते हुए बोले...अच्छा जब तक पक्की दुकानें अलाट नहीं होतीं...रेहड़ियां लगा लो...सड़क से हटाकर...पर हां खूंटे गाड़ कर छप्पर नहीं डालोगे...!"

'मैंने कहा, "सरकार का जैसा हुकम...लेकिन चिट्ठी मिल जाती तो...क्या पता फिर वैसा ही हो...सौ-सवा-सौ-परिवार हैं...चोर उच्चके बन जायेंगे नहीं तो..."

'हां...हां...' जिलाधीश मुस्काए...चिट्ठी भी ले ही जाओ !"



घेराव

बात कुछ पुरानी है...बरस और माह तो याद नहीं, हां उन दिनों गर्मी और बरसात की परस्पर होड़ लगी हुई थी।

मैं आंगन में बैठा था। हाथ में अखबार था, कब का? कहां 'शित? ...याद नहीं।

याद भी नहीं करूंगा, भूली तारीख का क्या महत्व?

बात में वक्त न गंवाऊं तो उचित होगा, लोग खूब व्यस्त हैं, आप ... कार बैठे होंगे? हजारों काम होते हैं, हो सकता है मात्र मूड ब... नजार हो।

थोड़े में ही कह दे... फिर भी एक बात कहने से नहीं चूक सकता, यकीन है आप सुनेंगे ...या हो ही नहीं सकता कि मैं कहूं और आप सुनें न। मैंने तो र... को रोककर अपने मन की कह दी है...फिर चाहे वे अफलातून कहे ...ात।

यह बात अलग है कि मुझे सुकरात क... च्छा लगता है, कई दफा तो लगा है कि मैं सुकरात ही हूं; जहर नह... क्या? काफी तो खूब पीता हूं...प्याले से उड़ते वाष्प...सिग्रेट का ... ां

और गप्पें...विदेशी क्रान्तियों की गप्पें...मेरे शौक हैं। गप्प ऐसी कि सामने वाले को काफी तक की फुरसत न रहे और मैं पानी का गिलास उसके आगे सरका...प्याला खुद गटक जाऊं। ...एक सिटिंग में दो तीन प्याले ज्यादा तो नहीं...वह भी तब जब पैसे आपकी जेब से हों।

महत्व तो गप्प का है, पैसों का नहीं। पैसा बटोरा जा सकता है यदि आप गूंगे न हों तो। बस बोलते जाएं, बेशक अनर्गल ही, लोग पीछे लग जाते हैं। टोपी पहन लें तो कहना ही क्या? उधर जय गांधी...इधर चांदी ही चांदी। और फिर...

भारतमाता की जय...खाने-खिलाने वालों की जय...पीने-पिलाने वालों की जय...देने-दिलाने वालों की जय।

मतलब यह कि दे दे राम...दिला दे राम...मन की प्यास...बुझा दे राम।

यह अलग बात है कि नारों का देश...अब बेकारों का देश है। अनुरोधों का देश...विरोधों-निरोधों का देश है। और लोग मनचाहा गाने लगे हैं...अराजकता फैलाने लगे हैं।

अराजक तत्व देश का दुश्मन है। पर मन दुश कब होता है? ...एक ओर से जब दुर-दुर होता है और दूसरी ओर से हुश-हुश होता है। यही तीन शब्द हैं जो कुर्सी-पकड़ में सहायक हैं...जन गण मन मंगलदायक हैं।

मतलब यह कि मौजूदा डायनमोक्रेसी में सब चलता है। ए० सी० फटाफट डी० सी० में बदलता है...और...अखबारें लिखती हैं कबिरा खड़ा बाज़ार में...सब की मांगे खैर...न काहू से दोस्ती न काहू से बैर।

श्रौर मैं...श्रखबार लेकर बैठा था...सुर्खियों को आंखों से पीता हुआ

सच नहीं मानेंगे श्राप। पूछेंगे आंखों से कैसे पीया जा सकता है? जनाब बजा फरमाते हैं ..परन्तु जब पीने की कहें...सुनने वाले को ब्लैक नाइट के घोड़े ही नज़र आते हैं। श्रौर फिर...चढ़कर खूंदने की ललक सभी में होती है...बिलाशक...बच्चों समेत बीवी घर में रोती है।

यार श्राप भी बड़े बोदे हैं...मानते ही नहीं कि आंखों से भी पीया जा सकता है।

श्रखबार में काफी सुर्खियां थीं जो हुश्रा ही करती हैं श्रौर वे भी श्रजीब-श्रजीब, कहीं साक्षात्कार, कहीं ब्लात्कार, कहीं ढोल मजीरा डमरू, कहीं नेता जनता के रूबरू।

डमरू बजा...तमाशा लगा...। बोल बच्चा भगवान शंकर की जै...उसकी जेब का नोट...तेरी जेब में है। बस यही हो रहा है... तू क्यों रो रहा है? हिम्मत न हार किसी का चमचत्व हासिल कर... नेता ही ईश्वर है उसे नाज़िर कर...जैसे भी हो किसी कुर्सी पर डट जा... दो दिन की जिंदगी खट सके तो खट जा...मत बन मिट्टी का माधो ...जैसे भी हो अपना ऊल्लु साधो।

हां-तो मैंने श्रखबार को मरोड़कर कांख में दबा लिया था। पढ़ें तो वक्त लगता है...श्रौर वक्त तो पास होता ही नहीं।

श्राप भी अजीब श्रादमी हैं...श्रखबार पढ़ने की नहीं दिखाने की चीज़ है...श्रखबार कांख में...बंदा सब की श्रांख में। यदि श्रखबार पढ़ाकू पीछे पड़ें तो उन्हें पतियाश्रो...निकट के चाय घर में ले जाश्रो...वे श्रखबार पढ़ते रहें...श्राप चाय सुड़कते रहें...नहीं तो मेज़ों की मैल

खुरचो.. जीवन के अनुभव मैल में पलते हैं और इनके पेड़ देर तक फलते हैं।

अखबार कांख में दबाए मैं आंगन में बैठा था। मेरी कुर्सी के नीचे घास नहीं थी।

हरी घास पर क्षण भर...अभी कहां इत्लयम्। मैं बैठ ही नहीं पाता...घास ही घास देखने की आदत है। आंगन में बिछी भूरी-भूरी खाक धूल। कुर्सी के नीचे छिपा...मैं गया भूल। आंगन भरा-भरा लगा...मन खूब-खूब उमगा। वैसे खाली-खाली देख जब मन उबकता है सिर भन्नाता है...पांव सड़कें चला जाता है। और जब बजरी मिली तारकोल गंधाती है...भूखे मरे मज़दूरों की याद आती है।

आंगन में घास ही घास थी.. चमकती ओस की बूंद बिल्कुल पास थी। ...मैंने चाहा ओस की बूंद को पकड़ लूं परन्तु वह बड़ी अड़ियल निकली हाथ नहीं आई।

टूटना मंजूर झुकना नहीं।

आप कहेंगे.. मैं भी अड़ियल हूं...नाहक बक रहा हूं। कहानी धरी की धरी है...आगे बढ़ता नहीं...अखबार पर ही अटका है...आंगन में उतरता नहीं।

पर मैं क्या करूं और कोई चारा नहीं...अड़ियल हुए बगैर गुज़ारा नहीं...सब कहीं अड़ियल टट्टू ही फलता है...राशन की दुकान, रेलवे काऊंटर, सिनेमा की विण्डो हो...अड़ियल टट्टू खूब चलता है। हालत यह कि अड़ियल न हों तो सारी आयु एक तरफ...और दो एक फिल्में दूसरी तरफ।

वैसे दो चार फिल्में देखकर ज़िदगी गुजार देना भी वाजिब है, कम-अज़-कम इण्डियन फिल्में तो हैं ही ऐसी। बस एक ही कहानी

कुछ आगे...कुछ पीछे ..कुछ कट ..कुछ रख...बाबा आदिम की खींची लकीर...लांघने में सभी असमर्थ।

बुजुर्गों की लकीर छोड़नी भी नहीं चाहिए नहीं तो आत्माएं भटक जाती हैं। ...जब आत्मा भटक जाती है, भयानक हो जाती है। कभी च्यूंटी की तरह दिमाग में रींगती है तो कभी हाथी-सी चिंघाड़ती रौंद डालती है। ...फिल्मवाले उससे डरते हैं.. ठीक ही करते हैं...उसके सामने जाएं तो फिल्म कैसे बनाएं ?

खैर...अब बोर नहीं करूंगा...कहानी पर आता हूं। कान करीब लाओ राज़ की बात है। ...विश्वास कर लूं ? ...करना ही पड़ेगा, नहीं तो आप कहेंगे...बड़ा घोंचू आदमी है, हमने झूठी बकवास पर विश्वास किया...और यह हमारी नीयत पर भी विश्वास नहीं कर रहा।

आप अपनी जगह ठीक हैं.. मैं अपनी जगह। बात ही ऐसी है आप पचा नहीं सकेंगे। मुझे ही देखें ..मैं ही कहां पचा पा रहा हूं...अंदर ही अंदर गड़बड़ कर रही है...बाहर निकलेगी...हैज़े की तरह फैलेगी... फिर भी सुना देता हूं.. एक मुसीबत और सही...उठा लेता हूं।

मैं अखबार लिए बैठा था कि दरवाजा खटखटाया गया। मैं उठा दरवाजा खोला। वह सामने खड़ी थी ...और मेरी सांस जहां थी वहीं अड़ी थी। पहले तो कभी नहीं आई...आज अचानक ही...वह भी अकेली।

नाम भी बता दूं ? ...क्यों, नाम में क्या रखा है ? सुविधा ? चलो सुविधा ही सही।

हां तो उसका नाम सुविधा था। चेहरा...गोल। आंखें... मोटी-मोटी हिरणी की आंखों जैसी। बाल...लम्बे काले घने बादलों जैसे। गर्दन...लम्बी सुराही के गले जैसी। होंठ...लाल-लाल बिम्बफल

जैसे। नाक...तोते की चोंच जैसी लम्बी मुड़ी हुई (पर सुविधा की नाक इतनी असुविधाकारी हो ही नहीं सकती)। दांत...चमकते मोतियों जैसे। कान सुन्दर कह लें...वैसे कमल-पत्र तो बहुत बड़े होते हैं न!

...और, और क्या होता है लड़की के चेहरे पर? अरे हां माथा ...माथा सुन्दर उभरा हुआ। आंखों की बरौनियां धनुषाकार। पलकें... गुलाब की पंखुड़ियां। गाल...चमकते अनार। बालों में मांग...बादलों में चमकती बिजली की रेखा...मन करे कि मांग भर दें।

छोड़ो यार तुम तो काव्य-शास्त्र ही ले बैठे...कहानी बढ़ाओ।

आप भी अजीब आदमी हैं...मैं कहानी सुना रहा हूं न कि हल चला रहा हूं ..जो हींकता ही चला जाऊं...अभी तो नखों की ओर चलना है।

उसकी कलाइयां...लचकती टहनियों जैसीं। धनुष जैसी भी कह लें तो उचित ही होगा वैसे कवियों ने तो सोने के डण्डे कहा है परन्तु मैं ऐसी सख्त लचकहीन भुजाएं पसंद नहीं करता...भुजाएं लड़की की न हुईं, सोने की मूर्ति की हो गईं...निर्जीव!

उसका वक्षस्थल...दो पर्वत शिखरों के बीच लहराती सी घाटी जैसा सब कुछ। बात को आसान करने के लिए ही कह रहा हूं यह, वैसे यह उपमा भी कम-अज-कम मुझे पसंद नहीं।

उसका नाभिस्थल...हिरणी के पांव की छाप जैसा।

थोड़ा और नीचे उतरूं...नहीं भाई...इससे नीचे का अंदाजा आप खुद लगा लें। मैं कहानी सुना रहा हूं, काव्य-शास्त्र नहीं पढ़ा रहा।

सुविधा सुन्दर थी और मन चंचल था। मैंने रास्ता दिया वह भीतर चली आई। वह मेरे बहुत निकट थी...यह पहला अवसर था कि मैं सुन्दर लड़की के इतना निकट था...मेरा मन बल्लियों उछल रहा था...मुहावरा तो ठीक है न ! इश्क में सभी मुहावरे एक ही अर्थ देने लगते हैं...

दरवाज़ा बंद किया...उसे रास्ता दिया...भीतर ले आया। वह सकुचा कर एक ओर खड़ी थी...मैंने बिठाया...वह बैठ गई पर सकुचा रही थी...मैं शरमा रहा था...कमरा महक रहा था...मैं बहक रहा था।

वह हमारे मुहल्ले की थी...कई दफा देखा था .. उसने मुझे . मैंने उसे पर यह दीठ अधूरी थी...खिड़की से झाकती तो चेहरा ही दिखता, पूरा शरीर नहीं। वह मुस्कराती, पल्ला सरका देती...मैं हंसता, अपनी राह लेता.. बस और कुछ न था...वह अपनी जगह टिकी-टिकी, मैं अपनी जगह रूका-रूका।

आपका नाम प्रकाश है न ! ...जी हां प्रकाश आनंद। कैसा है, अच्छा है न ! मैंने पूछा.. हां.. वह मुस्करा दी...लगा हज़ारों कलियां चटख उठीं...मन बाग-बाग हो आया...मन की अनेक परतें जाग पड़ीं... आंखें उघाड़, उसके रूप-रस को पीने लगीं।

"ऐस्से कम्पीटीशन के पेपर आप के पास हैं !" लगा फूले गुब्बारे में उसने कांटा चुभाया। "हां पर आपका पेपर? नेम स्लिपस तो हैं नहीं,, प्रिंसीपल ने फाड़ लिए हैं।"

"हमें पता है, हम अपना हैंड पहचान सकती हैं...कहें तो पहचान दें।"

बात बेतुक्की थी...पर प्यारी लगी...मैं घेराव में आ गया था। यह नहीं कर सकता...कह नहीं सका...पैरागन आफ़ ब्यूटी सामने थी क्यूपिड अंधा हो गया...कैसे इनकार करता।

वह पूरी तैयारी से आई थी...उठ कर करीब आ गई...उसकी सांसें मुझे गरमा रही थीं...'पेपर तो सामने पड़े हैं।'

मैं चुप रहा...वह मुस्कराई...बेबाक आगे बढ़ी...हैण्ड पहचानने लगी...मैं खड़ा रहा।

अगर फर्स्ट आ जाऊं तो मजा आ जाए। पेपर थमा कर उसने मेरी आंखों में देखा...मैं पूरी तरह घिर गया था...कोमल-कोमल रेशमी दीवारें...चारों ओर से निकटतर होती जा रही थीं...दीवारें-दीवारें! कोई रास्ता नहीं, कोई दरवाजा नहीं। यदि होता तो...तो निकल भागता...पर कैसे...रगों में खून तो दौड़ रहा था पर एक ही घेरे में। बुद्धि दौड़ रही थी...पर एक ही परिधि में। सांस भाग रही थी... पर बहुत दूर तक नहीं! घेरा और-और तंग होता जा रहा था... सच मानो मैं अपने जिस्म की सारी कैमिस्ट्री भूल गया था।

वह पेपर थमाकर और करीब आ गई ज़रा ध्यान रखेंगे न! मैं शाम को फिर आऊंगी...मैं चुपचाप देखता रहा...वह चली गई।

सच कहूं तो मुझे अपने आप पर कम उन लोगों पर अधिक कोफ़्त हुई जिन्होंने मुझे जज बना दिया था...भला कैमिस्ट्री का आदमी हिस्ट्री क्या जाने? है न बेतुक्की बात। पर यही सच है।

"माडर्न इण्डिया—इन हिस्टारीकल प्रास्पैक्टस" विषय पर निबन्ध प्रतियोगिता हुई। विषय बेतु का था और...पेपर मेरे पास आ गए थे। मैंने बहुतेरा कहा था मैं कैमिस्ट्री का आदमी हूं हिस्ट्री से मेरा क्या वास्ता

...पर प्रिंसीपल नहीं माने...देखो आनंद हिस्ट्री वाले फैक्टस देखेंगे इंगलिश वाले ग्रामर...सायकॉलाजी वालों पर मुझे यकीन ही नहीं...क्या पता गर्ल्ज़ प्रतियोगियों को कैसे लें...इस हालत में तुम्हीं मुनासिब हो...इतने काबिल तो हो ही।

सो मैं मान गया...जब प्रिंसीपल साहिब काबिल मानते हैं...तो मुझे क्या ? फिर पेपर ही पढ़ने हैं...कौन-सी ओज़ोन सूंघनी है...जो आंख चुराता फिरूं...वैसे भी चुनौतियां स्वीकार लेना अच्छा होता है।

ऐसे वैसे ही कई कारण थे सो मैंने पेपर ले लिए थे।

प्रतियोगी हाथ धोकर माडर्न इण्डिया के पीछे पड़ गए थे आंकड़े पर आंकड़ा चढ़ाते हुए नेताओं को भी पीछे छोड़ गए थे...बीच-बीच कई बार दण्डवत् प्रणाम भी कर रहे थे, देश के भावी नेता...कौन इनसे टक्कर लेता।

सो पेपर छोड़ मैं आंगन में आ बैठा था। अखबार की सुर्खियां देख-देख उवता रहा था...घास देख-देख ललचा रहा था कि सुविधा आ गई थी।

सुविधा क्या आई मेरा रोम-रोम खिल उठा...नारी देह और रेशमी दीवारों में घिरा मन मृग ! हिंदोस्तानी रेगिस्तान में प्रेम का इज़हार !

मैं भागता-भागता थक गया था बरसों से पाली उम्मीद पर पानी कैसे डालता...

अच्छा चलता हूं...गुडनाइट...



वसंतोत्सव

आंगन में कुर्सियों के बीच में बड़ी मेज़ें थीं और उन पर कई प्लेटें सजी हुई थीं, बीचों-बीच फूलों के अनेक गुलदस्ते सजा रखे थे। आंगन में ही थोड़ा हटा कर एक वाशबेसन का प्रबंध था और उस के स्टैंड पर पीले रंग का एक तौलिया लटका रखा था। गेंदे के बड़े-बड़े फूलों के अनेक हार मेज़ पर पड़े थे।

इस सारे आयोजन में श्वेता खूब भाग दौड़ कर रही थी, माथे पर हल्के पीले रंग की बिंदी, पीले रंग की साड़ी ब्लाउज। वसंतोत्सव की उमंग उसकी आंखों में कौंध-कौंध कर उमग रही थी और वह बार-बार दरवाज़े की ओर देख लेती थी। बड़े ही महत्वपूर्ण मेहमान के स्वागत का आयोजन था वह, आने वाला काफी अरसे के बाद विदेश से लौट रहा था।

उसका ध्यान आते ही श्वेता के शरीर में गुदगुदी सी हो उठती है, एक अजीब रोमांच पैदा हो उठता है, पता नहीं कितना बदल गया होगा नीलाभ।

उसके बारे सोच-सोचकर वह अद्भुत रोमान लोक में खो जाती है ......

नीलाभ से परिचय भी रोमांचक क्षणों जैसा ही था, लगभग यही मौसम था, यही लिबास और वह अपनी प्रोफेसर मिसेज़ मधु के घर गई थी...कुछ नया लिखा था और वह अपनी प्रशंसक प्रोफैसर को बिना सुनाए रह नहीं पा रही थी ...

और जैसे ही उसने कालबेल पर हाथ रखा था कि आसमानी रंग के सूट में सजे संवरे एक युवक को किवाड़ खोलकर स्वागत की मुद्रा में सामने खड़े देखा था। उसे देखते ही वह ठिठक कर रह गई थी फिर पता नहीं कैसे उसने स्वयं को संभाला था, "मिसेज़ मधु से मिलना है..."

वह भी तो एकदम लाल हो उठा था जैसे हृदय का सारा रक्त चेहरे पर ही आ रुका हो, आंखें खुली-खुली थीं जैसे उसे लील लेना चाहती हों और जब उसने साड़ी को सहेजा था तो वह संयत हो गया "आइए...बैठें...वह अंदर हैं" उसके स्वर में अजीब कम्पन था ...

और वह टिक कर नहीं बैठ पा रहा था, मैं उन्हें भेजता हूं कह कर वह भीतर चला गया था तो श्वेता देर तक स्वयं को सम्भालती रही थी 'शायद मधु जी के हसबैंड हैं, बड़ी भाग्यशालिनी हैं मधु जी।' सोच कर वह किसी अनजाने अपराध बोध से ग्रस्त हो उठी थी...उसे मधु जी के भाग्य पर रश्क नहीं करना चाहिए।'

वह बैठी सोच रही थी, तभी मधु जी के पीछे-पीछे ही वह भी सकुचाते हुए चला आया था...

उसे देखते ही मधु जी चहक उठी थी, "हैलो श्वेता। कुछ नया लिखा है क्या ? और हां...इनसे परिचय नहीं कराया, यह मेरा

भाई है। ...और यह है श्वेता, मेरी छात्रा और कालिज की प्रतिभाशाली कवयित्री... ।"

उसने हैलो कहा था। परन्तु वह तो वहां थी ही नहीं। आकाश में तैरती अकेली कूंज...आसमानी रंग के सूट को अपलक ताकती हुई...

"दीदी तो बहुत तारीफ करती है आपकी...आज तो मैं भी कविता सुनूंगा। वसंत बहार और कविता...खूब मजा आएगा... सुनाएंगी न आप ?"

उसने सिर उठा कर देखा था, वह उसी को ताक रहा था। और उसके गाल लाल-लाल हो उठे थे, पता नहीं क्यों श्वेता उसकी निगाह का सामना नहीं कर पायी थी। "मैं-मैं तो अभ्यास ही कर रही हूं...कविता...कविता तो बहुत दूर की चीज है...अभी... ।" श्वेता का स्वर कांप रहा था ...

"वाह। अच्छे कवि का यही तो गुण है...विनम्रता तो होती ही है उसमें...तुलसीदास भी तो यही कहते थे...है न ! ...वैसे मुझे कविता का ज्यादा ज्ञान नहीं...फिर भी सुनूंगा...सुनायेंगी न...!"

"तुम बैठो, मैं चाय रख आऊं।" कह कर मधु जी भीतर चली गईं थी, एक अजीब सी खिलखिलाहट थी उनके स्वर में, जिसे श्वेता अनदेखा न कर सकी थी और सकुचा कर सोफे पर बैठी रही थी ...

तभी वह बोला था "मेरा नाम नीलाभ है.. है न कविता जैसा ही सुन्दर ...' और वह हंसा था।

"हां... " श्वेता की आंखें फिर से झुक गई थीं।

"मैं इन्जीनियरिंग कर रहा हूं...फाइनल में हूं...निकल गया तो विदेश जाने का विचार है, दो साल और लगेंगे...लौटते ही शादी कर लूंगा।" वह एक ही सांस भर में कह गया था और श्वेता को बड़ा अटपटा लगा था, हैरत से भरी हुई उसे देखती रह गई थी।

"आप को अजीब लग रहा है न, बेहूदा भी लग रहा होगा,... मेरा यह सब कहना। .. लगना ही चाहिए पर भई मैंने सोचा आप पूछते हुए शरमाएंगी, न मालूम कितनी उलझन होगी आपको। तो क्यों न मैं ही कह दूं सब।" और वह खिलखिला कर हंस पड़ा था, एक खुली-सी हंसी जैसे सैंकड़ों कलियां चटख कर फूल हो उठी हों।

फिर श्वेता रोज़-रोज़ जाने लगी थी...और दोनों घुलमिल गए थे। वह कविताएं सुनाती और नीलाभ के प्रति उसके मन में जो कुछ जम गया होता, ढल कर कविता में उतर आता। कविता के बहाने उसने न जाने कितनी बार उसे अपने-आपको समर्पित किया था, न जाने समर्पण की कितनी सुगंधें छोड़ी थीं उसके मन और शरीर ने ... और उसे हमेशा लगता रहा था कि नीलाभ इन सुगंधों को सूंघ रहा है।

और जब नीलाभ जोश में आता तो अपना विषय ले बैठता और फिर उसे चुप कराना मुश्किल हो जाता। श्वेता बोर होती रहती और वह बताता रहता कि पक्के और मजबूत मकान के लिए रेत और सीमेंट का क्या अनुपात होना चाहिए...कि मजबूत पुल के लिए सपोर्टिंग मीनारें कितनी दूरी पर हों...कि तीन टांगों पर भी मेज़ क्यों स्थिर रहताहै......कि क्यों ट्राई पोलर के सिद्धांत पर ही दुनिया टिकी रही है...कि क्यों पीसा कर मीनार टेढ़ा हो कर भी गिरता नहीं...और...और न जाने क्या—क्या कहता...परन्तु कहता, बहुत

भोला और मासूम चेहरा बना कर...लगता वह नीरस बातें करके श्वेता को चिढ़ा रहा हो...वह चिढ़ भी जाती...परन्तु धीरे-धीरे रोज़-रोज़ की ऐसी ही बातों से श्वेता ने जान लिया था कि उसके लिए एक अजीब ललक है, उसके भीतर, जिसे वह व्यक्त नहीं कर पा रहा...

वह खुल जाए, इसीलिए तो श्वेता ने पूछा था, "तुम ने तो कहा था, विदेश से लौटते ही शादी कर लूंगा..."

हां कहा तो था..." वह मुस्कराया ।

"तो लड़की ढूंढ ली?"

"ओह हां...वह तो ढूंढी ही नहीं ।"

"तो क्या आते ही जाल फैलाओ गे?"

"नहीं जाल तो फैला रखे हैं, कई फंसी भी हैं...परन्तु अभी निश्चित नहीं कर पाया ..." नीलाभ ने कनखियों से उसकी तरफ देखा था तो उसके मन में छनाक-सा कुछ गिर कर टूट गया था और वह चुपचाप उठकर चली आई थी ।

अगले दिन नीलाभ खुद ही आया था । कालेज के गेट पर खड़ा रहा था और जैसे ही वह निकली थी, साथ चल पड़ा था" तुमने पूछा था लड़की के बारे?"

शायद वह रात भर सो नहीं सका था, आंखें भिची-भिची-सी लग रही थीं, "क्या रात को सोये नहीं... ?"

"नही...बस जाल ही समेटता रहा ।" उसने ठहाका लगाया था ।

"तो कुछ हाथ भी लगा या..."

"लगी...खूबसूरत मछली...यानी... ।" और वह उसके कान में फुसफुसाया था। श्वेता लज्जा से लाल-लाल हो उठी थी और चिहुंक कर उसके निकट से हट गई थी, "तुम लगते तो नहीं हो ऐसे..."

"तो अब क्या इरादा है जनाब का? कह दूं दीदी से...?" और श्वेता सिर झुका कर भाग खड़ी हुई थी।

फिर उनकी मीटिंग्ज़ बढ़ गई थीं, उत्तरोत्तर लगाव बढ़ रहा था। दोनों मिलने को आतुर रहते थे और जब संध्या आती तो उनके लिए स्वर्ण काल बन जाती।

समय कुलांचें भर रहा था...

और वह विदेश जाने की तैयारी में जुट गया था। तैयारी जोर-शोर से चल रही थी, श्वेता पर बहुत काम आ पड़ा था, गर्म कपड़े उसी के जिम्मे थे; न मालूम कितनी ऊन उसने बुन डाली थी! रात दिन सिलाइयां उसके हाथ में रहतीं परन्तु वह थकती न थी, सिलाइयों की ताल पर हृदय में जलतरंग-सा कुछ बजता रहता...भावुकता की अनेक लहरें उठती रहतीं, हृदयताल में न जाने कितने-कितने कमल खिल-खिल उठते थे और वह उन्हीं कमलों से खोई हुई सिलाइयां चलाती रहती थी।

और जिस रोज़ उसने उड़ान भरी थी, श्वेता भी दूर तक उसके साथ-साथ उड़ती रही थी, मन की उड़ान को कौन रोक पाता...वह साथ-साथ उड़ रही थी तभी तो उसके हिलते हाथ का प्रत्युत्तर भी नहीं दे पाई थी...और घर लौटी थी तो रात भर सो नहीं सकी थी। हफ़्ता भर तो वह मधु जी से भी नहीं मिली, मन डूबा-डूबा-सा रहता था और वह तभी उभरा था, जब नीलाभ का पहला पत्र आया था।

वही सीमेंट और रेत का अनुपात...स्काई स्केपर्ज़ और उनकी लिफ्टों के मैकेनिज़म का वर्णन...बिल्कुल मकैनिकल-सा पत्र था वह।

ग्रौर वह उसके एक-एक शब्द को सहेजती रही थी कि कहीं न कहीं कोई शब्द उसके लिए भी होगा...कोई पंक्ति तो ऐसी होगी जिसे लिखने के लिए ही उसने पत्र लिखा होगा...ग्रौर वह पंक्ति पत्र के ग्रंत में ही थी...

बस फिर क्या था, जब श्वेता ने पत्र लिखा था तो वह भी ताजमहल की सुन्दरता का ही वर्णन करती रही थी...बिलख-बिलख कर ही तो उसने भी लिखा था कि दिल्ली का कुतुब मीनार उसे रात-दिन पुकारता रहता है ग्रौर अंत में एक शेर की पंक्ति लिखी थी... हमीं करें कोई कोशिश उन्हें मनाने की... ।

पत्रों का यह सिलसिला महीनों तक चलता रहा । फिर नीलाभ ही ने लिखा था "परीक्षा निकट है ग्रौर पत्र लिख नहीं रहा, मात्र घसीट रहा हूँ ।" उसे बहुत बुरा लगा था नीलाभ का यह लिखना । ग्रौर वह भी एम० ए० की परीक्षा के लिए तैयारी करने लगी थी...फिर वह पढ़ाई में जो गुम हुई तो महीने निकल गए...न उसने पत्र लिखा न उधर से पत्र ग्राया । बसंत ग्राया...फूल टटके...वृक्ष पत्तों से लद गए परन्तु वह किताबों में उलझी रही ग्रौर जब परीक्षाग्रों से फारिग हुई तो मौसम में तेज़ धूप ही रह गई थी, गर्म हवाएं चलने लगी थीं...रेत-मिट्टी के कण ग्रांखों में पड़ने लगे थे ग्रौर बाहर निकलना कठिन हो गया था...

गर्म दुपहरियां शुरू हो गई थीं...मौसम की भी ग्रौर जीवन की भी...चारों तरफ मनहूस खामोशी छाई रहती थी ग्रौर नीलाभ का कोई पत्र नहीं ग्रा रहा था, काफी इन्तज़ार करने के बाद तंग ग्रा कर उसी ने पत्र लिखा था...

ग्रौर जब तक उसका पत्र ग्राया तब ग्राड़ू के पेड़ों पर गुलाबी

फूल आ गए थे, नाश्पतियों के पत्ते पक गए थे और सफेद फूल उनकी टहनियों पर झूलने लगे थे। कचनार की कलियों की नीली झाइयां गुलाबी होकर फूल बन गई थीं और इन फूलों की खट्टमिट्ठी भीनी-भीनी गंध वायु के मंद झोंकों पर सवार हो उठी थी। चीड़ों के पत्तों की झालरें अपने यौवन पर आ गई थीं और उनकी ठण्डी बयार ने पहाड़ों का रंग ही बदल दिया था। ...यह महकता हुआ माहौल उसके पोर-पोर में बस रहा था और वह पूरी मदहोश और निढाल सी नीलाभ के पत्र का इन्तजार कर रही थी परन्तु पत्र आया तो ग्वारगंध की कसैली गंध समेटे हुए...कहीं कोई ऐसी पंक्ति नहीं थी जिसे वह संजो पाए। तभी लगा था कि नीलाभ की मुस्कराहटें झूठी थीं, सीमेंट और रेत का अनुपात बिगड़ गया था और जिस मीनार को वह बना रही थी, वह ढह गया था। जिस कुतुबमीनार पर वह खड़ी थी, उसकी उस ऊंचाई पर आक्सीजन घट गई थी और सांस लेना कठिन हो रहा था। तब पहली बार उसका मन घायल हो उठा था, आड़ू...नाश्पाती, कचनार के फूलों और चीड़ों की सौंधी सुगंधों को सूरज की गरमी लील गई थी, शीतल हवा का कोई निशान बाकी नहीं रह गया था।

फिर जो भी पत्र आता...मात्र औपचारिक रिश्ता झलक उठता ...तब तक नीलाभ ने एम० ई० का फाइनल कर लिया था और वहीं बस जाने के सपने देख रहा था, "युनाइटेड स्टेटस् में काफी सहूलियतें हैं और जल्दी ही कोई बढ़िया नौकरी मिल रही है..." इस पत्र में नीलाभ की मुंदी-मुंदी-सी खुशी झलक उठी तो अचानक ही श्वेता का ध्यान चम्पे की खिली कलियों पर जा टिका था, सुगंधित कलियां फूल बन उठी थीं, इन फूलों को देख कर वह बहुत प्रसन्न होता था "कितना सादा फूल है पर खूब सुगंधित...तुम्हारी ही तरह..." और उसने महकते

हुए फूल को तोड़ कर उसके बालों में टांक दिया था, "लगता है किसी इन्जीनियर ने तुम्हारे लिये ही बनाया है...कवयित्री को एक समझदार इन्जीनियर की भेंट ..लो स्वीकार करो।" और वह ठहाका लगा कर हंस पड़ा था।

"फूल तो इन्जीनियर नहीं बनाते...चाहे वे कितने ही समझदार क्यों न हों..." वह भी हंस दी थी। तो हंसते-हंसते ही नीलाभ ने कहा था "भई मेरी डिक्शनरी में तो एक ही शब्द है...इन्जीनियर... इन्जीनियर... ।"

और अब वह इन्जीनियर बन ही गया था परन्तु जिंदगी की डिक्शनरी के सारे पन्ने फाड़ कर, न चम्पे की कलियाँ रह गई थीं न उसकी कविताओं का ही कोई अर्थ...सभी कुछ भूल गया है वह...ऐसा ही लगा था उसे...

आज वही इन्जीनियर आ रहा था, "कुछ ही दिनों के लिए आ रहा हूं फिर तो स्टेट्स में ही सेटल हो जाऊंगा, "उसने लिखा था तो वह समझ गई थी कि वह मात्र चक्कर लगाने ही आ रहा है, उसी के स्वागत का आयोजन कर रही थी श्वेता...वैसे तो आज श्वेता का जन्म दिन भी था परन्तु उसे इस से अधिक नीलाभ के स्वागत का ही चाव था। कई दिनों से वह इस आयोजन के प्रति सोचती रही थी। प्रत्येक वस्तु की कलात्मक सजावट की उसे विशेष चिंता थी...वह मधु जी से मिल कर नीलाभ की पसंद–नापसंद पूछती रही थी और अनेक तरह की चीज़ों की एक लम्बी फेहरिस्त भी उसने बना ली थी...उन सब चीज़ों को ही वह सजा रही थी...और बार–बार दरवाजे से बाहर देख लेती थी।

उसके मन में अनेक शंकाएं थीं कि न जाने उसके टेस्ट्स कितने बदल गए हों, वह यह सब कुछ पसंद भी करेगा कि नहीं। लेकिन स्टेट्स

में रह कर हिंदोस्तानी टेस्ट्स पूरे ही कहां होते हैं, बेचारा तरस ही गया होगा इनके लिए', हृदय के किसी एक कोने में उसे यह भी लगा था और इसी एक अनुभूति के बल पर वह पीले रंग के साड़ी-ब्लाऊज में लिपटी तितली की तरह थिरक रही थी।

पीली कनातें...तौलिए...पीली गुलदाऊदी और गेंदे के फूल... पीला ही पीला महकता हुआ माहौल और उस सब में कुछ खिली-खिली तो कुछ मुंदी-मुंदी-सी वह बार-बार बाहर की ओर देख लेती थी। चाहती तो थी कि चम्पे के फूलों का हार डाल कर ही नीलाभ का स्वागत करे परन्तु मन के किसी कोने में चिंता की एक लकीर भी थी, 'चम्पे की कलियाँ खिलने का अभी मौसम ही नहीं आया, नहीं तो उन्हीं का हार बना लेती, उसने तो एक ही फूल वालों में टांका था वह उसे उन फूलों से लाद देती परन्तु...

और श्वेता इस परन्तु की गिरफ्त से बड़ी मुश्किल से छूट पाई थी और स्वागत के लिए शब्द बटोरती रही थी...पिछले बरसों में लिखे अपने सभी पत्रों की प्रतिलिपियां पढ़ती रही थी...बढ़िया से बढ़िया वाक्य कहना चाहती थी वह, ताकि नीलाभ को सभी भूले क्षण एकदम याद आ जाएं और वह एक बार ही सही यदि श्वेता के किसी पत्र की कोई पंक्ति दुहरा दे तो वह उसे क्षमा कर देगी, अपनी सारी उपेक्षा भूल जाएगी...सारे उपालम्भ दबा जाएगी...और भी न जाने क्या-क्या वह सोचती रही थी और अपने मन को ढाढस देती रही थी...यदि वह उसे ही पत्र लिखता रहता तो इंजीनियर कैसे बनता...स्टेट्स में नौकरी कैसे ढूंढ पाता...और वह स्टेट्स कैसे जा पाती...

स्टेट्स की रंगीन जिंदगी का सपना श्वेता भी तो संजोती रही है...वह कैसे पूरा होता ? और उस सपने में खोए-खोए उसे लग रहा था

कि देश की मिट्टी में वह महक ही नहीं रही जिसे वे साथ-साथ सूंघा करते थे, वह वसंत ही नहीं रहा जो उनकी धमनियों में खिल-खिल जाता था और वह बिना बात हंसती रहती थी, बिना सिहरन चिंहुक-चिंहुक जाती थीं...

अब तो वह भी नीलाभ के साथ ही चली जाएगी न ! स्टेट्स का लिबर्टी स्टेच्यू...बहुत करीब से देखेगी...एक मुक्त हंसी...मुक्त हवा में...मुक्ति की मूर्ति के बहुत करीब...जब दोनों बाजू में बाजू डालकर घूमेंगे...तो...नीरस-सा इन्जीनियर भी...कितना रोमांटिक लगने लगेगा...यही सोच-सोच कर वह रोमांटिक हो उठी थी और इस सारे आयोजन में अपने-आप को खपा रही थी।

मेहमान धीरे-धीरे आने लगे थे और उसे नीलाभ का इंतजार भारी पड़ने लगा था। कुछ इसी भारीपन को लील लेने के लिए ही वह भाग दौड़ कर रही थी।

फिर अचानक ही मधु जी लगभग भागती-सी आई थीं और उसके कंधे से लग कर हिलक-हिलक कर सिसकने लगी थी...

"मैडम क्या हुआ...क्या हुआ...आप की आंखों में... आंसू हैं...काफी दिनों बाद आ रहे हैं न, तभी तो...... ।"

और तभी नीलाभ आ गया था, "हैलो...हैलो एवरी बाडी...मीट माई सिस्टर मिसेज़मधु...माई...। श्वेता...मीट हर...माई वाइफ रोज़ी."

और रोज़ी ने हाथ बढ़ा दिया था...हैलो श्वेटा...ग्लैड टू मीट यू...आई वाण्टेड टू सी इन्डिया...नीलाभ डिडण्ट वांट फार...विल यू शो मी इन्डिया...वाट् दिस यैलो फलार"?

श्वेता को तो सांप ही सूंघ गया था वह कुछ न बोल सकी तो मधु जी ही बोलीं "गैंदा।"

"गैण्डा...वैरी गुड...इट्स ब्यूटी फुल फलार...गैण्डा...आई विल रिमेम्बर इट...आई विल प्लांट इट...इन कैलिफोर्निया...मे आई श्वेटा...?"

"यैस यू मे।" और सिसकती हुई श्वेता भीतरी कमरों में जा घुसी थी...



भालू

वह बचपन के दिनों को याद करता है तो सारा जीवन खाली-खाली-सा लगने लगता है, जैसे पतझर का मारा रुण्ड-मुण्ड हुआ आंगन का पेड़ ! और वह कदमताल की मुद्रा में निरर्थक चहलकदमी करते करते थक जाता है, थकावट से चूर होकर जब कुहनियों में सिर छिपाए बैठता है तो अतीत की कंदराओं में भटकने लगता है, ज़हन की काली झिल्लियों में से एक खिलौना बार-बार उभरता है और उसका ज़हन कुंद होने लगता है...न जाने बाबू जी यह खिलौना कहां से खरीद लाए थे ।

...भालू के कंधों पर नीम बेहोश औरत...औरत का जिस्म गुलाबी चमकीला और भालू का काला स्याह...बड़ी सी थूथनी औरत के गालों से सटी हुई...भालू उसे ढोने की अपेक्षा चूमता हुआ प्रतीत होता !

...बाबू जी जब भी यह खिलौना पकड़ते, औरत के उभरे अंगों पर से ही। घिस-घिस कर औरत का चमकीला गुलाबी रंग मैला पड़ गया था ।

बाबू जी भालू ही तो थे और कविता उनके कंधों पर पड़ी नीम बेहोश औरत, वहशी हवस की साधन मात्र ।

उसे नाहक मसला जाता रहा है। न पति का सुख, न पुत्र का, न मां और न नारी जीवन की जन्मजात उमंग। मात्र चूल्हे चौके में होम हुआ जीवन ! न मानसिक तुष्टि न अपनत्व भरा अधिकार, कुछ भी तो नहीं मिला कविता को।

भालू के कंधों पर टंगी वहशी हवस की पूरक नीम बेहोश औरत! कहीं जा भी तो नहीं सकी वह, पांवों के तलुवे चाट-चाट कर जैसे भालू ने उसे अपंग कर दिया हो। मात्र भालू के कंधों पर तो जिन्दगी गुजर नहीं सकती न !

कविता की आंखें भर आती थीं, जब भी वह उसके तलुवों पर तेल की मालिश करता था। उसके तलुवों में सफेदी ही सफेदी झांकती थी, दबाने या मसलने पर भी रक्ताभा का आभास न होता।

कविता ने ही यह लोक कथा सुनाई थी कि कोई भालू कहीं से एक औरत को उठा लाया था और उसके तलुवे चाट-चाट कर उसे अपंग कर दिया था। वह कंदरा मे पड़ी रहती, कहीं जा भी न पाती, भालू शहद ला देता और उसे चूमता चाटता निहाल हुए रहता...

तब वह बहुत छोटा था, अंधेरी कंदरा में पड़ा हुआ ! और बाबू जी ने कविता को अपंग कर दिया था...वह कहीं भाग भी नहीं सकी थी।

क्यों नहीं भागी वह ? इस प्रश्न ने उसके मन-मस्तिष्क को कई बार कोंचा था परन्तु रहस्य गहरा ही होता गया था और अंधेरी कंदराएं उसे लीलती रही थीं...लीलती रही थीं...परन्तु फिर एक दिन इन कंदराओं ने अचानक ही उसे उजाले की ओर उछाल दिया था जैसे किसी अदृश्य शक्ति ने पर्दा खींच कर सारा रहस्य उघाड़ दिया हो...

...बाबू जी नहीं रहे थे और वह कालेज से लौट आया था। बाबू जी के पास कोई राजपाट तो था नहीं जो वसीयत लिखते, फिर भी वह

कविता के साथ-साथ किसी लिखा-पढ़ी की तलाश में था। उन्होंने बाबू जी का संदूक खोला था। उलट-पलट में ही एक पत्र हाथ लग गया था और कविता पत्र छीन कर रो ही तो उठी थी।

कई बार वही पत्र उसके ज़हन की कंदराओं में कौंध उठता है। लिखा था "ओ प्रियगी तुम्हारे अनेक नाम हैं...अनेक कोणों से देखा है तुम्हें, तुम मेरे लिए क्या हो, शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाता। तुम्हारा मोह धमनियों में रेंगता रहता है और जब-जब अकेला होता हूँ, यही मोह होंठों पर बांसुरी धर जाता है...लेकिन जो हो गया है, उसे निभाने के सिवा कोई चारा भी तो नहीं...काश तुम्हें अपना दर्द बता पाता..."

कविता को बिलखते देख कर लगा था कि यह पत्र उसी के लिए लिखा है, परन्तु कौन-सा ऐसा दर्द था जो बाबू जी उसे बता नहीं सके थे ? ऐसा क्या हो गया था जिसे निभाने के सिवा कोई चारा न था ? सोच-सोच कर उसका ज़हन कुंद हो गया था।

अतीत की कंदराओं में वह और अधिक भटकना नहीं चाहता परन्तु अतीत है कि मानस पटल पर चित्रलेखों-सा डूबता उतराता रहता है। इन चित्रलेखों को वह कोई तरतीब भी तो नहीं दे पाता, कुछ भी सिरे से पकड़ में नहीं आता सिवाए कविता के प्रति एक अनजानी-सी सहानुभूति के। और उसका मन खाली-सा धुंआता रहता है। बचपन से ही तो वह कविता को मां-सा चाहता रहा है...

जब वह काफी छोटा था तो बाबू जी के साथ सोता था। पता नहीं उन्हें ठण्ड अधिक लगती थी या क्या था कि जांघों में जांघें फंसाए वह उसे चूमते रहते थे और जब छाती से चिपका कर ज़ोर से भींच लेते थे तो वह कुलबुला कर रह जाता था। उनकी पसलियां

चुभने लगती थीं तो मां के नर्म वक्ष याद आ जाते थे, उन्हीं के बीच छि
छिपा कर वह सो जाया करता था...

तब उसे दूध से भीगे-भीगे माँ के जिस्म की गंध बहुत अच्छी
लगती थी और वह मचल-मचल कर मां के आंचल में छिप जाया करता
था। मां उसे चूमती थी तो उनके सांस की महक उसके पोर-पोर में
बस जाया करती थी...

चूमते तो बाबू जी भी थे, परन्तु पागलों की तरह। उनका
थूक चेहरे को बुरी तरह भिगो देता था। कहां यह थूक भरा प्यार
और कहां पोर-पोर में समा रही मां के सांस की महक...और वह रोने
लगता था...

बाबू जी उसे लालच देते, मिठाई का लालच; टक् टक् टक् करते
चलने वाले भालू का लालच; भालू के कंधों, पर पड़ी नीभ बेहोश औरत
का लालच! परन्तु भालू उसे कभी अच्छा नहीं लगा भयभीत होकर वह और
अधिक रोने लगता था।

बाबू जी क्रोधित हो उठते, "और रोए तो मैं रूठ जाऊंगा..."
और वह चुप हो जाता। निरीह-सा बच्चा सोचता, यदि बाबू जी भी
रूठ गए तो फिर नहीं मानेंगे...

मां भी तो नहीं मानी थी। बहुत मनाया था उसे, गले लिपट
कर पप्पी दी थी, रोया भी था फिर भी नहीं मानी थी वह...जब नहीं
ही मानी तो उसे जला दिया गया था...

जब भी वह मंजर याद आता है तो वह उदास हो जाता है, आंखें
पत्थरा–सी जाती हैं।

तब वह नितांत अकेला रह गया था, पल भर में ठूंठ हो गए
आंगन के पेड़ की तरह...।

उसका स्कूल छूट गया था। मां थी नहीं जो वक्त पर उसे त्यार करती। हर रोज देर हो जाती और बस निकल जाती।

बस निकल जाती तो बाबू जी भिन्ना कर रह जाते और वह घर में अकेला पड़ा रहता। खिलौनों में मन ही न लगता था...मित्र स्कूल से लौटते तो वह घर से निकलता, वह भी कभी-कभार ही। और फिर रात होती तो वही जकड़बंदी...वही थूक !...और मां की महक के लिए तरसता हुआ मन...।

...जब कविता आई थी तो उसे राहत मिली थी।

पता नहीं वह कहां से आई थी...बस उसे टुकर-टुकर कर देखती रही थी। फिर धीरे-धीरे वह उससे हिलमिल गई थी और देखते ही देखते उसने सारा घर संभाल लिया था।

बाबू जी ने उसे नये-नये कपड़े ला दिए थे...मां के कानों के कांटे भी उसे दे दिए थे...

मां तो इन्हें कभी कभार ही पहनती थी। जब वह माथे पर बिंदी लगाती तो बहुत सुन्दर लगती, गोल-गोल चेहरा, चांद की तरह चमकता। बहुत-बहुत प्यारी थी वह...

कविता उन दिनों बहुत खुश थी, बाबू जी ने उसे अलग कमरा दे दिया था।

और उसी ने तो उसे फिर से स्कूल में दाखिल करा दिया था, नाश्ता देती थी, बस्ता त्यार करती थी और ऐन वक्त पर बस स्टाप तक छोड़ आती थी।

उसके माथे की बिंदिया बहुत सुन्दर लगती थी उसे देख-देख कर मां की बहुत याद आती...

मां सुबह ही नहा लेती थी, बाल चाहे गीले ही हों, माथे पर बिंदी जरुर लगातीं। और उन्हें खुले बालों में देखकर बहुत अच्छा लगता, कैलेण्डरों वाली लक्ष्मी माता लगती थीं वह, जब कभी वह यही बात कहता, मां बहुत प्रसन्न होती, छाती से लगा कर उसे चूम लेती...

कविता भी उसे चूम लेती थी। बिंदी वह भी लगाती थी, सुन्दर भी लगती थी परन्तु कैलेण्डरों वाली लक्ष्मी जैसी नहीं। ...फिर भी वह उसे छाती से लगा लेती तो उसे बहुत अच्छा लगता था।

उसे अच्छा लगता था तभी तो धीरे-धीरे वह बाबू जी की पसलियों को भूल गया था।

वैसे वह भी तो न उसे अब भींचते थे न चूमते थे बल्कि उन्होंने तो उसे अलग कमरा दे दिया था।

और वह कविता का शुक्रगुजार भी हुआ था, बहुत दिनों बाद राहत जो महसूस की थी।

कभी-कभार बाबू जी कविता के कमरे में सो जाते तो उसे बड़ा मज़ा आता, जब वह उन्हें कविता को भींचे देखता।

कभी-कभी उसे कुढ़न भी होती थी कि बाबू जी तो कविता की गुदगुदी छातियों की गरमाहट लेते हैं और वह पीछे छूट जाता है। यह कुढ़न बढ़ी तो उसने भी हठ पकड़ लिया कि वही कविता के साथ सोएगा...

अनेक बहाने थे उसके पास—कभी कहता 'अकेले डर लगता है, मैं यहां सोऊंगा' कभी कहता 'अकेले ठण्ड लगती है, मैं साथ सोऊंगा'—और किसी न किसी बहाने वह उसके बिस्तर में घुस जाता था, उसके गले लग जाता, उससे चिपक ही तो जाता था वह।

कविता के सांसों की महक और जिस्म की गंध लगभग मां की गंध जैसी थी, लगभग वैसी ही गरमाहट थी उसकी छातियों में, और वह उस सब में लिपट कर सो जाता था।

इसी होड़ के कारण जितना वह कविता के निकटतर हुआ था उतना ही बाबू जी से दूरतर होता गया था। और वह निकटता खोना नहीं चाहता था, शायद यही कारण था जो उसने कह दिया था, "मौसी आप मेरे कमरे में सोया करो...मुझे यह कमरा अच्छा नहीं लगता... मेरा बैड भी बड़ा है, मैं मां और बाबू जी तीनों ही सो जाते थे उस पर... तीनों के लिए तो यह बहुत ही छोटा है।

कविता हंस दी थी, "तुम बहुत भोले हो कुछ नहीं समझते... वह तुम्हारी मां का बैड है...न बाबा न! मैं तो यहीं ठीक हूं..."

और जब वह स्कूल से लौटा था तो कविता उसी के कमरे में थी, गुनगुनाती हुई झाड़-पोंछ कर रही थी परन्तु उसे देखते ही सकपका गई, "मैंने सोचा अपने बाबा का कमरा साफ कर दूं, पर्दे भी बदल दूंगी...।"

और वह किलक उठा था, "फिर तो सोया करेंगी न यहां?" "हां भई हां...पर तुम मुझे मां कहा करोगे तब?" और वह खिलखिला कर हंस पड़ी थी।

फिर उसने पर्दे बदल दिए थे, गुलदस्तों में नये फूल भर दिए और उसके बस्ते के लिए अलग जगह बना दी थी।

फरनीचर की तरतीब बदली तो...मां का शृंगार टेबुल पीछे छूट गया।

अब कमरा खुला-खुला हो उठा था।

दौड़-दौड़ कर वह अपने शृंगार की चीज़ें ले आई थी और गुनगुनाते हुए कंघी करने लगी थी।

वह उलझे हुए बाल संवार रही थी और बाबा देख-देख कर प्रसन्न हो रहा था, तभी तो उसने मां के शृंगार टेबुल के सामने उसे ला बिठाया था।

जब मां संवरती तो वह उसकी मदद करता, कभी कंघी थमाता कभी पाउडर, कभी बिंदी, कभी सिंदूर। मां खिलखिलाकर हंसती और "थैंक्स थैंक्स" कहती तो वह बहुत खुश होता।

उस रोज भी तो वह अतिरिक्त उत्साहित था और कविता की मदद करने लगा था कंघी...पाउडर...चूड़ी...बिंदी...मां के कान के क वह एक-एक चीज़ दे रहा था और कविता हंसती खिलखिलाती चीज़ लेकर इस्तेमाल करके कहती, "तुम तो पूरे मेकअप मैन हो, हो न!"

वह बहुत उत्साहित था...तभी तो उसने मां की सिंदूर की डिब्बिया बढ़ा दी थी...

कविता ने डिब्बिया खोली और सकपका कर खड़ी हो गई "नहीं बाबा यह नहीं...यह तो सिंदूर है।"

और वह भौंचक-सा रह गया था।

बड़ी अजीब लगी थी कविता। मां तो गुनगुना उठती थी सिंदूर लगाती हुई और यह!

उसने चेहरा छिपा लिया था और जब कुहनियां हटाईं तो उसकी आंखों में आंसू थे।

वह दंग रह गया था, "क्षण भर पहले ही तो हंस रही थी और अब रो क्यों रही है? तब उसने उसकी आंखें पोंछी थी। म

ग्राप रो रही हैं ? नहीं; मैं तो...उसका गला रूंद्ध गया था और कविता ने उसे छाती से चिपका लिया था, "रंग तो अच्छा है, पर यह तो बड़ी मां का है न! बाबू जी डांटेंगे।"

और रूआंसी हो उठी कविता ने वही भालू जैसा खिलौना शृंगार टेबुल पर रख दिया था।

भालू का रंग वैसा ही चमकीला काला था...वह पिछली टांगों पर खड़ा था और औरत वैसी ही नीम बेहोश...उसकी देह का गुलाबी चमकीला रंग घिसा हुआ नीम बेहोश औरत के पांवों के तलुवे पूरी तरह सफेद हो गए थे...।

उस रोज़ उसे लगा था कि कविता बेकार ही डर रही थी, बाबू जी ने उसे डांटा नहीं था बल्कि उसे उस कमरे में देख कर खिल उठे थे और बोले थे, "हमारा बेटा खुश तो हम भी खुश।"

वह सुना तो उसे रहे थे परन्तु कह कविता को रहे थे। उनकी निगाह में प्रशंसा का भाव था जैसे कविता ने कोई असाध्य काम कर दिखाया हो। उसे बुरा भी लगा था परन्तु वह खुश भी था "चलो तीनों साथ-साथ सोया करेंगे।"

बाबू जी रात देर गए लौटते थे और वह कविता की छातियों से लगा देर तक कहानियां सुना करता था-परियों की, जिन्नों की... राजकुमारों की...। कविता को कहानियां बहुत आती थीं, कहानी सुनाते-सुनाते न कभी थकती, न सोती...हंस-हंस कर आवाज़ बदल-बदल कर कहानी सुनाती तो खूब मजा आता...

परन्तु उस दिन उसे बिल्कुल मज़ा नहीं आया था। कहानी बिल्कुल नयी तरह-की थी, सोच-सोच कर रुक-रुक कर वह बोल रही

थी, बोलते-बोलते उद्विग्न हो रही थी और उसका गला भर्रा रहा
फिर भी वह बोल ही रही थी "एक राजा था, उसकी सुन्दर रानी
एक बेटा था बिल्कुल तेरे जैसा। राजा रानी दोनों घुड़सवारी करते
एक दिन रानी के घोड़े को ठोकर लगी, वह खड्ड में गिरा और गि
ही रानी मर गई..."

"रानी ही मर गई तो कहानी क्या रही ?" उसने झुंझ
कर पूछा था परन्तु कविता का गला अवरुद्ध था। अंधेरे में ही उ
उसने उसके चेहरे पर हाथ फेरा तो चौंक उठा था "मां तुम तो रो र
हो। रानी मर गई तभी न !"

"हां बेटा रानी के कारण दासी भी तो मर गई न !"

अच्छा दासी भी मारी गई ! पर कैसे ? फिर तो जरूर सुनूंगा

कहानी आगे बढ़ी, "वहीं एक बूढ़ी गरीब औरत रहती थी
उसकी बेटी बहुत सुन्दर थी, बहुत गुणवती थी, राजा उसे पसन्द तो करत
था परन्तु उससे शादी नहीं कर सकता था, अपनी प्रजा से डरता
न...।

"फिर...फिर क्या हुआ ? दासी कैसे मरी...राजा ने मार
उसे ?"

हां...राजा बड़ा जालिम था परन्तु राजकुमार अच्छा था बिल्कु
तुम्हारी तरह...मेरे बाबा जैसा सुन्दर।

उसने उसे चिपका लिया था और भर्राये गले से बोली
"राजा तो ज़ालिम था...उसका वजीर और भी घटिया था, उसी ने सलाह
दी कि औरत गरीब है, बेटी सुन्दर है विवाह योग्य...विवाह तो क

नहीं सकती, तुम खरीद लो...बेच देगी...साथ रखो...शादी बेशक न करो।"

"फिर-फिर राजा मान गया ?"

उसे रानी नहीं दासी की जरूरत थी, उसने लड़की खरीद ली। उसी के साथ खाता-पीता, सोता-जागता...इस भालू की तरह उठाए फिरता। लड़की नीम बेहोश थी और भालू जैसे राजा ने उसके पांव चाट-चाट कर उसे अपंग बना दिया था, चाह कर भी वह भाग न सकती थी...और राजा था कि न उसे छोड़ता था न उसकी मांग ही भरता था।

"फिर-फिर दासी का क्या हुआ ?"

"वह लड़की दासी ही तो थी जो रानी नहीं बनी...मर रही है राजा के महल में...जैसे यह औरत भालू के कंधे पर।" ...और कविता का भीगा स्वर खामोश हो गया था।

और वह उदास था, यह कहानी उसे बिल्कुल अच्छी नहीं लगी थी। राजा पर तो बहुत ही गुस्सा आया था, राजकुमार भी अच्छा नहीं लगा था।

तभी से पता नहीं क्यों वह ऐसी कहानियां पसंद नहीं करता था जो गरीब औरतों की खूबसूरत बेटियों के बारे हों, न ही उन राजाओं की कहानियां उसे अच्छी लगतीं जो खूबसूरत लड़कियों को खरीद लेते हैं।

और उसी रात जब कविता सो गई थी तो उसने औरत समेत भालू खिलौने को तोड़ कर फैंक दिया था।

बस तभी से भालू उसे कभी अच्छा नहीं लगा। भद्दा-सा जानवर, बेढंगी-सी चाल, लम्बे-लम्बे काले बाल और सोयी-सोयी-सी आंखें।

परन्तु हरामी ऐसा कि खूबसूरत लड़की को कंधों पर उठाए घूमता रहे टक्-टक्-टक् ।

क्या ही बेहूदा खिलौना था वह, जिसे देखते ही उसका खिलंदड़ा मन भिंच-सा जाता था और डरा हुआ-सा वह उन दोनों के बीच जा लेटता था ।

बाबू जी बिगड़ते भी परन्तु कविता मुस्कराते हुए उसे चिपका लेती थी ।

बरस-दर-बरस बीतते रहे । फिर बाबू जी के बाल झड़ गए कविता के घने काले बालों में सफेद रेशम झिलमिलाने लगा परन्तु माथे की बिंदी वैसी ही थी कभी छोटी हो जाती तो कभी बड़ी और सिंदूर की डिब्बिया हमेशा की तरह अनछुई...

वह सयाना हो गया था । कालेज में छुट्टियां होतीं तो घर लौटता । कविता उसे सीने से चिपका लेती, वह शरमा जाता, भरापुरा नवयुवक अपने शरीर को जानने लगा था । ...कविता की स्थिति भी वह समझता था ।...

बचपन से वह उसके शरीर से लिपटता आया था और जो रिश्ता उन दोनों के बीच तब था वही रिश्ता अब भी रग-रग में समाया हुआ था ।

राजा और दासी का रिश्ता...मां की सिंदूर की डिब्बिया... कविता का बिलख-बिलख कर रो उठना और बाबू जी का भालू वाला खिलौना...वह कभी नहीं भूल सका ।

उसने हमेशा से कविता को ही भालू के कंधों पर नीम बेहोश पड़ी देखा था...एक ऐसी औरत को देखा था उसने जिस के पांवों के तलुवे सफेद हो चुके थे परन्तु मांग ज्यों की त्यों सूनी रही थी...

क्यों हुआ था यह सब ? क्या अपराध था कविता का ? क्यों उसने न मांग भरी व संतान जनी ? अनेक प्रश्न उठते थे जिनके उत्तर वह नहीं ढूंढ सका था और अंधेरी कंदराओं में ही भटकता रहा था.. क्या सचमुच ही बाबू जी ने कविता को खरीद लिया था। उसी राजा की तरह...परन्तु उनका तो कोई राज्य नहीं था...किराने की मामूली-सी दुकान से दो वक्त की रोटी ही तो नसीब होती रही थी उसे।

फिर वह कौन-सा लालच था कविता को, जो बाबू जी को अकेला छोड़ती ही न थी, कहीं से भी गर्म हवा न लगने देती थी, आंचल फैला कर सभी ऐब ढांप लेती थी, कहीं कोई छिद्र तक नहीं, कभी उनकी छत टपकी नहीं...सारा कारोबार भी तो उसी ने संभाल रखा था, एक पांव घर में तो दूसरा दुकान पर, कभी खाना खिलाती तो कभी ग्राहक निपटाती। फिर भी वह बाबू जी की पत्नी नहीं थी...

फिर कौनसा ऐसा मरहला है जिसमें झपटती चील से मुर्गी की तरह पंख फैला कर उसने रक्षा नहीं की उसकी। उसकी तो रग-रग में कविता का स्नेहिल स्पर्श अब भी दौड़ रहा है, वही तो उसकी मां है। मां क्या होती है और उप मां क्या ? मिथकों की दुनियां में वह उलझा ही नहीं था, और कविता के साथ-साथ बाबू जी को भी स्वीकार गया था, स्वीकारता भी क्यों न ?...पता नहीं कविता ने कितने बोल-कुबोल सुने थे।

उसने गणेश चतुर्दशी का व्रत मोखा था तो उसे माथा टिकाने ले गई थी तब पहली बार उसे लगा था कि कविता बड़े जीवट की औरत है...

बड़ा तीखा कुबोल था "बाबू हर गोपाल तो मजे में हैं, हमें नहीं मिलती ऐसी नौकरानी जो खिलाए भी और गरमाए भी।"

वह तिलमिला उठा था परन्तु कविता मात्र मुस्करा कर रह गई थी, जब भी यह ताना याद आता है उसका मन भीग जाता है, किसके लिए रख रही थी वह व्रत, उसने तो कोई बेटा नहीं जना, शादी ही नहीं हुई थी तो बेटा कहां से होता... ।"

इन्हीं लोक-बोलों से डर कर वह न तो करवे बदलती थी न सुहागिनों को ही कुछ परोसती थी...बस अपने मन को संभाल बाबू जी के पांवों में सिर रखे चांद निकलने का इन्तजार करती रहती...उस दिन वह खूब सजती-संवरती पर उसकी मांग उस दिन भी अनछुई रहती।

बाबू जी कहते भी तो टाल देती, "रिश्ते तो मन से होते हैं जग से नहीं। जग का क्या है मान्यता देकर कर्तव्यमुक्त हो लेता है।

परन्तु वह जग तो नहीं है जो मात्र मान्यता देकर कर्तव्य मुक्त हो जाए, उसकी तो रग-रग में उसका स्पर्श दौड़ रहा है, जिन्दगी के सारे मौसम तो उन्हीं स्पर्शों ने दिखाए हैं...

उन्हीं मौसमों ने उसे जिन्दगी दी थी तो बाबू जी को निपटाया भी था।

अब उनका सांवला रंग दिन-प्रति-दिन काला पड़ रहा था और आंखें और अधिक सोयी-सोयी रहने लगी थीं। एक अजीब-सी थकान उन्हें देखकर मन में उभर आती थी।

कविता अब भी उसे सीने से चिपका लेती थी। उसका शरीर बुढ़ा गया था, पांव के तलुवे मसलने बैठ जाएं तो खून उभरता ही था, लगता पूरी तरह सफेद हो गए हों। आंखों में नीम-बेहोशी छाई रहती थी और जब निढाल होकर वह पड़ जाती तो घर सूना-सूना हो जाता। आंगन के पतझर से मारे पेड़ की तरह...यूं लगता जैसे राजा की दासी मरी नहीं आखिरी सांसें ले रही हो...

और उसे वह रात नहीं भूलती, जहन की कंदराओं ने उस रात को ज्यों का त्यों संभाल रखा है, उसी रात उन दोनों के सम्बन्धों को वह जान सका था। दोनों में कहा सुनी हुई थी और कविता ने कहा था बावा से ममता न होती तो तुम जेल की चक्की पीस रहे होते...पहले तो तेरा बाप नहीं माना...जन्म पत्रिकायें मिलाता रहा...और तेरी शादी कर दी और अब तू कुण्डली ले बैठा...जब जन्म पत्रिका का इतना ही डर था तो मुझे लाया ही क्यों...लाया था तो मर्दों की तरह पेश आता... धोखा, जिल्लत, अपना घिनौनापन तो न देता।

बाबू जी खिसिया रहे थे। "तुम्हें चाहता था...चाहता हूँ... जिंदा रहे तू...इसीलिए तो...फिर तू सोयी भी तो नहीं थी...तेरी मर्जी से ही तो..."

"शोर मचाती तो बावा का भविष्य...तुम्हारी जेल...फिर वे कमबख्त दिन भी तो नहीं भूली थी...जब तुम प्रेम पत्र लिखा करते थे।"

"तो अब क्यों ले बैठी हो यह सब। सिंदूर ही नहीं भरा न! चाभी...गल्ला...मैं...बावा...सब तेरा ही तो है...यही मिलता न...।"

हां यही मिलता लेकिन घर में ही...रखैल...रखैल...रखैल कान पक गए हैं...सुन-सुन कर...पहले-पहल मन हुआ था कि भाग जाऊं... और अधिक नीम-बेहोश न रहूं...पर कहां परोसती तुम्हारी जूठन... बोल...बाबू जी चुपी साध गए थे...

और तभी से वह उस विधवा-जूठन को गले लगा कर रह गया है...काली अंधेरी कंदराओं में रोशनी की एक मात्र किरण ही तो है कविता ...यानी...उसकी मां...।



जाल

पहाड़ियों पर बर्फ खूब पड़ गई थी और जनवरी की ठण्डी हवाओं के थपेड़े खिड़कियों के पल्लों से टकरा रहे थे। कालेज होस्टल के बाहर रात का घना अंधेरा छाया हुआ था। छात्रों ने बत्तियां बुझा दी थीं और कुछ सो रहे थे तो कुछ सोने से पहले की सरगोशियां कर रहे थे।

परन्तु वह जाग रहा था। कम्बल में लिपटा बैठा, थरिलर पढ़ रहा था।

...क्या खूब विषय है...व्यक्ति के स्वभाव पर औपचारिकता के बंधन ! ...क्यों आदमी प्राकृत स्वभाव को मांज-मांज कर सुसंस्कृत हो जाता है ? सहज अनुभूति पर कैसे-कैसे बंधन हैं ? ...वह पूरा पढ़ने की नीयत से रमा बैठा था।

"क्यों अकड़ा बैठा है, इस ठण्ड में ? सो जा अब !" तभी उसके पहलवान-नुमा साथी ने ललकारा "अरे सोता है कि उठा कर बाहर पटक दूं !"।

"रहने दे यार, पढ़ने दे जो पढ़ता है...नहीं तो औरतों की तरह बहस करने लगेगा। तू ही रजाई लपेट ले मुंह पर...साला एक ही

बाक्स से नॉक-डाउन हो जाएगा...और मुसीबत आ पड़ेगी हमारे ऊपर।"

सभी साथी अपने-अपने ढंग से उसे धमका रहे थे।

रात के बारह बज रहे थे। अंधेरा सायं-सायं कर रहा था और खिड़कियों से रोशनी बाहर निकल कर फैली हुई थी। परन्तु वह था कि ढीठ बना डटा बैठा था। वह जानता था कि उसे कोई नहीं पटकेगा, यह धमकियां तो मात्र नारेबाज़ी हैं...जिसके सामने ढिठाई अमोघ-अस्त्र है... इसके रहते कोई मैदान में नहीं उतरता।

वैसे बाक्सिंग और पहलवानी तो वह भी करता है, शायद इसी कारण साथियों की धमकियां सूखे-बादलों की तरह बिना बरसे रह जाती हैं और वह देर रात तक...मनचाहा पढ़ता रहता है।

"अरे सो जा अब, बारह बज रहे हैं। नहीं तो...सुच्चा सिंह आ धमकेगा...।"

दूसरे साथी ने बात लपक ली, "आ धमका तो भीगी बिल्ली न बन जाना तब।"

"अच्छा बाबा...बुझा देता हूँ।" लिहाफ के नीचे तहाये कम्बल को सीधियाते हुए वह बोला तो सभी साथी खिलखिला कर हंस पड़े, "हो गई न सारी शेखी खुश्क! सुच्चासिंह नाम ही ऐसा है... बड़ों-बड़ों का पेशाब उतर जाता है...हा...हा.. हा...।"

उन्होंने ठहाका लगाया और उसने बत्ती बुझा दी, लिहाफ में घुस कर वह सोने का यत्न करने लगा परन्तु साथियों के ठहाके लावे की मानिंद उसके कानों में टपक रहे थे।

पता नहीं कैसे वह सुच्चासिंह को भूल ही गया था जबकि यही वह हथियार है जिसका वह सामना नहीं कर पाता। उसे देखते ही वह

आतंकित हो उठता है.. बड़ा कुरख्त जानवर है सुच्चासिंह...देर तक वत्ती जलाये रखना असम्भव हो जाता है.. उल्लु कहीं का...ग्यारह के बाद वत्ती जलती देखे तो चुंधियाया हुआ झपट पड़ता है ।

लिहाफ ओढ़े-ओढ़े वह सोचने लगा कि वत्ती बुझा कर उचित ही किया है...नहीं तो...वह आ बमकता...आते ही पटक देने को उतारू हो जाता...मिट्टी पलीद करता.. जुर्माना ठोंकता...घर में शिकायत भेजता...मामूली सनक के कारण इतनी सजाएं देकर भी उसे चैन न पड़ता...क्लास में बार-बार प्रश्न पूछता और सभी के बीच बेइज्जती करता पता नहीं किस उल्लु के पट्ठे ने इसे प्रोफैसर बना दिया है... इसे तो हवालदार होना चाहिए था ।

कई दफा उसका मन हुआ था कि एक बार ही सही वह सुच्चासिंह को ललकार दे...परन्तु हिम्मत नहीं जुटा पाया हमेशा लगा है कि कोई भयंकर गद्दी कुत्ता उसकी ओर बढ़ रहा है...लाल-लाल खूंखार आंखें और गले पर कांटेदार पट्टा...पट्टे के कांटों में विंधे हुए अनेक खूंखार चेहरे.. ! प्रिंसीपल का चेहरा सबसे ऊपर...प्रिंसीपल का सबसे अधिक वफादार है वह... ! मनेज़मेंट के प्रैजीडैंट का टोपीधारी चेहरा...उसका जासूस है वह... ! सैक्रेट्री का काणा चेहरा...उसकी दूसरी आंख है वह !

मतलब यह कि सभी की पॉवर्ज़ को पिरोकर बनाया गया कांटेदार पट्टा उसी के गले पर बंधा है...और वह...यानी सुच्चासिंह पालतू भी है...खूंखार भी ! ...सभी...डरते हैं उससे...वह भी...और खिखियाकर हंस रहे ये सभी साथी भी...

उनकी खिखियाती हंसी लावे की तरह उसके दिल-दिमाग में भर गई थी परन्तु वह चेहरा ढांप कर रह गया था...

खुली खिड़की से सरसराती हवा अंदर आ रही थी पर वह चाह कर भी खिड़की बंद नहीं कर पाया, "हवादार कमरे में सोना सेहत के लिए अच्छा रहता है"...अपने हरेक भाषण में कहता रहा है सुच्चासिंह...

...मकड़ी के जाले की तरह फैला हुआ है वह...दीवारों, बोर्डों, बैंचों, कुर्सियों ..पर छाया हुआ है सुच्चा सिंह। छात्र-छात्राओं के ज़हन पर मण्डराता रहता है...सुच्चासिंह.

जब सुच्चासिंह बाहर खड़ा हो तो खिड़की बंद करने की हिम्मत कौन करे... !

उसे सुच्चासिंह की अपेक्षा सर्दी से लड़ना बेहतर लग रहा था।

बाहर की चक्राती हुई हवा खिड़कियों के पल्लों को झिझोड़ रही थी। पहाड़ों पर पड़ी बर्फ से ठण्डक बढ़ रही थी और लिहाफ के बाहर चेहरा रखना न मुमकिन लग रहा था। वह अपने निःश्वासों से बिस्तर गर्म करने लगा था। और धीरे-धीरे गरमाहट फैल रही थी।

सांस की गंध कम्बल की गंध से घुल मिल कर बिस्तर के भीतर की हवा में भर आई थी...यह दुर्गंध अखर तो रही थी परन्तु वह... खिड़की बंद नहीं कर सका...। अच्छा भला आदमी...आतंक बन गया था, उसके लिए...

सुच्चासिंह से उसका पहला सामना तब हुआ था जब वह एडमीशन कमेटी के सामने पेश हुआ था।

सुच्चासिंह को देखकर उसे भय मिश्रित अचम्भा हुआ था... उसके चेहरे पर देहाती जूती जैसी नोकदार मुड़ी हुई मूंछें थीं, पगड़ी कसी-क़सी बंधी थी और गहरा रही आंखों में क्रूर मुस्कान थी...

उसे सर्टीफिकेट दिखाते-दिखाते वह घबरा गया था। घबराते हुए ही उसने कहा था, "सर मुझे होस्टल में भी सीट चाहिए।"

सुच्चासिंह चौंक पड़ा था और देर तक उसकी ओर देखता रहा था। उसकी क्रूर निगाह सर्चलाइट की तरह उसके भीतर तक उतर रही थी, "क्यों शहर में डेरा क्यों नहीं ले लेते...?...कुश्ती-वुश्ती भी करते रहना...। होस्टल में तो सख्त डिसिप्लिन रहेगा...। नहीं भाई नहीं...मैं होस्टल को हंगामों से दूर रखता हूं...। हीरो टाइप लड़के नहीं रह सकते होस्टल में"।

उसे गुस्सा तो बहुत आया था परन्तु कुछ कह न सका था और जब सुच्चासिंह टस से मस न हुआ तो प्रोफैसर शर्मा ने उसकी जामन भरी थी फिर भी जब प्रिंसीपल ने ही कहा, तब कहीं संतुष्ट हुआ था और डिसिप्लिन का वास्ता देता हुआ माना था "अच्छा सर, आप कहते हैं तो रख लेता हूं...वैसे ये बाक्सर-वाक्सर लड़के होते ऐसे ही हैं...बाकी लड़कों को भी खराब कर देते हैं। शर्मा जी तो शरीफ आदमी हैं...बेकार ही जिम्मेदारी ले रहे हैं इसकी।"

उसी दिन से सुच्चासिंह उसे आतंकित करता रहा है। प्रोफैसर शर्मा की वजह से वह उसे ललकार भी नहीं पाता..हलांकि मन ही मन उसने जब-जब सुच्चासिंह को नॉक-डाउन किया है वह रक्तबीज़ की तरह हज़ार-हज़ार होकर उठ खड़ा हुआ है।

काश सुच्चासिंह मामूली आदमी होता, प्रोफैसर शर्मा जैसा साधारण-सा जीव! ढीला-ढाला व्यक्तित्व...लगता है ईश्वर ने अपनी सारी निरीहता को शर्मा जी में साकार कर दिया है। सायकलॉजी पढ़ाते हैं...लोग-बॉग खुश रहते हैं उनसे।

उन्हें ड्राइंग का शौक है, लैटरिंग अच्छी कर लेते हैं...हल्के और गहरे ब्रुश से एक ही रंग के शेड्स बना लेने में उन्हें खूब महारत हासिल है।

ड्राईंग तो शौक ही है लेकिन इन्ट्रव्यू के वक्त उन्होंने इसे भी क्वालीफिकेशन में शुमार कर लिया था। उन्हे चुन तो लिया गया था परन्तु अब वह इस शौक को लेकर खूब पछताते हैं और जब भी सुच्चासिंह को देखते हैं भीतर तक उबल उठते हैं...अपने मनोभावों पर नियंत्रण नहीं रख पाते...चेहरा खुरदरा-सा हो उठता है और मुट्ठियां कस जाती हैं।

परन्तु सुच्चासिंह उनके इस विवश आक्रोश की परवाह नहीं करता। वह जानबूझ कर उन्हें चिढ़ाने के लिए उनकी ड्राईंग की तारीफ करता रहता है और कभी एक का तो कभी दूसरे का हाथ पकड़े हुए मुंहज़ोर हंसी-हंस कर पास से निकल जाता है।

हरेक आदमी जो छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए दूसरों के शौक को जिबाह कर सकता है...कहीं न कहीं हरामखोर भी होता है, सुच्चासिंह उन्हीं आदमियों में से एक है।

उसने अपने गिर्द अपने ही जैसों की हिमायती दीवार खड़ी कर रखी है...फिर चाहे इस दीवार में लगी ईंटें प्रिंसीपल हों...प्रैज़ीडैंट हों... चाहे सैक्रेट्री.. शर्मा जी जैसों के लिए तो यह दीवार अलंघ्य ही है...

उन्होंने बहुत माथा मारा था इस दीवार से परन्तु किसी का कुछ नहीं बिगाड़ सके थे और स्थिति यह आ गई थी कि स्वयं एक तमाशा बन कर रह गए थे...

जब भी शर्मा साहिब का चेहरा उसे दिखता है वह भीतर ही भीतर द्रवित हो जाता है और सुच्चासिंह के प्रति अतिरिक्त सजग हो उठता है।

लिहाफ में लिपटे-लिपटे ही वह अतीत के घटनाचक्र का स्मरण करने लगा और उस घटनाचक्र में शर्मा जी के बरक्स सुच्चासिंह को

परखने के यत्नों में उलझ गया परन्तु वह किसी भी घटना को मन चाहा रूप नहीं दे पा रहा था, सुच्चासिंह सभी जगह हावी होता जा रहा था।

...कालेज में नई फैकल्टी का प्रोपोजल उसी ने तो दिया था और प्रबन्धक के घर आना जाना भी तो उसी का ज्यादा था।

प्रिंसीपल साहिब बहुतेरा कहते रहे कि नयी फैकल्टी के लिए कालेज तैयार नहीं है परन्तु जब प्रबन्धक माना ही नहीं तो विवश होकर उन्होंने कागज़ तैयार करके आवेदन पत्र भेज दिया था...

...समस्या तब आई जब एफीलिएशन के लिए रुपया भरने के लिए कहा गया। प्रबन्धक कमेटी की मीटिंग हुई। प्रिंसीपल साहिब से रकम के लिए पूछा गया तो उन्होंने कह दिया, "फिक्सिड डिपाजिटें यूनीवर्सिटी के नाम कर दी जाएं।"

...सैक्रेट्री का परामर्श भी यही था।

...परन्तु कालेज स्टाफ के प्रतिनिधि के रूप में सुच्चासिंह ने अलग ही राय दी, "सर, मेरा विचार है कि इलाके के जाने-माने लोगों से चंदा उगाह लिया जाए।"

...हुआ यह कि सुच्चासिंह का परामर्श स्वीकार लिया गया और प्रिंसीपल साहिब निरीह-सा होकर प्रबन्धक का मुंह ताकते रह गये।

फिर क्या था कालेज के प्रोफैसर इलाके भर में घूमने लगे... काफी धन इकट्ठा हुआ, कुछ की रसीदें कटीं...तो कुछ गुप्तदान के रूप में। अब यह तो सुच्चासिंह ही जानता है कि कितना दान जमा हुआ और कितना गुप्त ही रह गया।

खैर पैसा भर दिया गया तो यूनीवर्सिटी ने कालेज-इनस्पैक्शन की तिथि निश्चित कर दी।

अब कालेज को इन्स्पैक्शन के लिए तैयार करना था। वार फुटिंग पर काम होने लगा था। प्रिंसीपल के मन में कई मनसूबे जाग उठे थे, वह भी वरिष्ठ प्रोफैसरों से कोई न कोई परामर्श करते रहते थे, सभी को एक ही चिंता खाए जा रही थी कि नयी फैकल्टी के लिए बिल्डिंग कैसे बन सकेगी जबकि कमेटी फिक्सिड डिपाजिटें तक तुड़वाना नहीं चाहती थी। चंदा भी तो बार-बार नहीं उगाहा जा सकता और कमेटी की हालत यह कि पिछली बरसात में जिन दो कमरों की छतें बैठ गईं थीं, उनका मलबा अब तक नहीं उठवाया था उसने, फिर नये कमरे कैसे बन सकेंगे इस जल्दी में...

इधर सब इसी चिन्ता में घुले जा रहे थे उधर सुच्चासिंह अपनी ही उधेड़बुन में गुम, बार-बार प्रबंधक महोदय के घर के चक्कर लगा आता था और जब भी वह कालेज में होता था उसके चेहरे पर बड़ी रहस्यमयी मुस्कान होती थी।

उसके रहते प्रिंसीपल साहिब को लगता था कि उनके मनसूबे धरे के धरे रह जाएंगे...पता नहीं...कब वह क्या परामर्श दे दे और उन्हें कोई पूछे ही न...

सुच्चासिंह के बढ़ रहे प्रभाव से वह भी दुखी थे। परन्तु प्रबन्धक महोदय तो सुच्चासिंह की कसम तक नहीं खाते थे, जब तक सुच्चासिंह परामर्श न दे, बात आगे बढ़ती ही नहीं थी।

इसी उधेड़बुन में प्रिंसीपल साहिब ने योजना बनाई कि कालेज कमेटी, स्टाफ और छात्र सघ की एक साथ मीटिंग की जाए, शायद इस भीड़ में सुच्चासिंह पीछे छूट जाए।

लगभग सभी प्रोफैसर सभागार में आ गए थे, कुछ कुर्सियों पर विराजमान थे तो कुछ इधर-उधर टहल रहे थे। न अभी तक प्रिंसीपल

साहिब ही स्टेज पर आयेथे और न प्रबन्धक कमेटी के सदस्य। छात्र संघ के सदस्य कुर्सियों पर बैठे बतिया रहे थे और सुच्चासिंह अलग थलग-सा महसूस कर रहा था।

प्रोफैसरों को आपस में सरगोशियां करते और हंसी मजाक करते देख कर जब सुच्चासिंह से नहीं रहा गया तो वह छात्र संघ के सदस्यों के बीच आ बैठा और उन से हंसी मजाक करने लगा।

अभी थोड़ी देर ही वह बैठा था कि प्रबन्धक कमेटी के सदस्य भीतर आ गए। उन्हें आते देख सुच्चासिंह फुदकता हुआ-सा उनके स्वागत के लिए बढ़ा और देखते ही देखते उन्हीं के साथ स्टेज पर जा बैठा।

प्रोग्राम तो यह था कि प्रिंसीपल साहिब ही कालेज की वस्तु-स्थिति से अवगत करवाएं और योजनाबद्ध तरीके से कार्य सम्भालने के लिए परामर्श मांगें...

इस सारे उपक्रम में सुच्चासिंह को मात्र स्टेज संभालनी थी।

मीटिंग आरम्भ हुई परन्तु प्रिंसीपल की योजना धरी की धरी रह गई, वरिष्ठ प्रोफैसर अपना-सा मुंह लेकर बैठे रह गये और सुच्चासिंह ने आरम्भ में ही निवेदन कर दिया कि प्रबन्धक महोदय मंच पर आएं और सभा को सम्बोधित करें।

प्रबन्धक महोदय उठे। खंखारते हुए गला साफ किया। गांधी टोपी की नोक सीधी की। प्रोफैसरों और छात्र नेताओं पर दृष्टि फैलायी और फिर जाकेट के बटनों को उमेठते हुए बोलना आरम्भ किया...

"मान्यवर प्रिंसीपल महोदय, प्रबन्धक कमेटी के सदस्यगए, छात्र वृन्द और प्राध्यापक बन्धुओ...आप सब को ज्ञात ही है कि हम यहां

क्यों एकत्रित हुए हैं। इससे पूर्व कि मैं कालेज के भविष्य के लिए योजना तैयार करने के लिए आप सबसे निवेदन करूं, मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं कि कालेज के प्राध्यापक वर्ग को विशेष धन्यवाद कहूं। आप लोगों ने शिक्षा जगत में स्पृहणीय उदाहरण प्रस्तुत किये हैं और मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि यदि आप सबका योगदान हमें प्राप्त होता रहा तो एक दिन हमारा कालेज प्रांत भर के कालेजों में अग्रणीय स्थान ग्रहण कर लेगा। कालेज की आर्थिक स्थिति के सुधार के लिए आपने जिस सेवाभाव से चंदा उगाहा है वह प्रशंसनीय है। यदि देश का प्राध्यापक वर्ग इसी निष्ठा से कार्यरत हो जाए तो देश की प्रगति के पथ में कोई बाधा ठहर ही नहीं सकती..."

प्रबन्धक महोदय भरसक यत्न कर रहे थे कि प्राध्यापकों की भावनाओं को उकसाया जा सके...वह जाल पर जाल फैंक रहे थे लेकिन कहीं न कहीं खुसरफुसर बढ़ती ही जा रही थी...प्राध्यपक बार-बार सुच्चासिंह की ओर देख रहे थे और फुसफुसा रहे थे... "प्रबन्धक साहिब के भाषण की भाषा इसी ने लिखी है...साले ने अनपढ़ के गले में ढोल जैसे शब्द बांध दिये हैं...चंदा उगाहने की सलाह भी तो इसी की थी...आज फिर यह स्टेज पर है...न जाने क्या कह दे...कैसे-कैसे तवेलों में पहुंचाया है... इस हरामी ने..." उनकी सरगोशियां जोर पकड़ रही थीं। प्रबन्धक महोदय को असुविधा महसूस हो रही थी, वह स्थिति संभाल नहीं पा रहे थे।

प्रोफैसरों को कैसे जकड़ें कि वे शान्त बैठें। छात्र ही थे जिनके बहाने वह प्रोफैसरों को भी झिड़क देते...परन्तु यह स्थिति नाजुक थी। अतः उन्होंने छात्रों पर निगाह डाली...चेहरे पर मृदु मुस्कान उभारी "आप शान्त बैठें। खरीज की तरह ज्यादा न टनकें..." और वह स्वयं ही फिस्स करके हंस पड़े थे।

माहौल शान्त हुआ तो उन्होंने स्वर को ऊंचा किया, "हां भाइयो मैं कह रहा था, आप सब भाइयों का योगदान सराहनीय आप विद्यादानी तो हैं ही, धन का दान भी कर रहे हैं...कालेज आर्थिक स्थिति ही ऐसी है कि हम चाहते हुए भी आप को पूरा नहीं दे पा रहे...इसका हमें खेद है...हमें आप पर गर्व भी है कि आ कभी वेतन की ओर ध्यान नहीं दिया...आपकी यह निष्काम सेवा सराह है...देश की युवा पीढ़ी को मार्ग निर्देश देकर...उसे शिक्षित करके... के निर्माण में...आप जो योगदान कर रहे हैं उसे वेतन के तराजू पर तोला जा सकता। आपकी निष्ठा, ईमानदारी और निष्काम सेवा समक्ष मैं नतमस्तक हूं...

फिर उन्होंने छात्र नेताओं की ओर देखा और बोले, "आप हैं जानते ही कि आज हम क्यों एकत्रित हुए हैं अत: अधिक न कहते हु प्रबन्धक कमेटी की ओर से आप सभी उपस्थित सज्जनों और छात्र संघ सदस्यों से निवेदन करता हूं कि कालेज की बिल्डिग और इसके पर्याव को सुन्दर बनाने के लिए अपना बहुमूल्य परामर्श दें..."

...वैसे मेरा अपना मत है कि कोई कालेज पेड़-पौधों का या ईंट पत्थर की इमारत मात्र नहीं होता। कालेज की नींवें संस्कारों पर ही टिकती हैं। जो कालेज युवा पीढ़ी में निष्काम ईमानदारी, मेहनत और देश भक्ति के संस्कार भर देता है, वह देश महान सेवा करता है और यह काम ईंट-पत्थर या पेड़-पौधे नहीं क कालेज का शिक्षक वर्ग ही करता है, छात्र ही उसकी सम्पत्ति होते इसीलिए मैं तो यही कहना चाहता हूँ कि हमें कोई बिल्डिग नहीं करनी, मात्र सफ़ाई-सफेदी करवा लें तो काफी है.. हां संस्कार आवश्य है...अत: दीवारों पर बढ़िया मोटोज़ लिखवा लिए जाएं तो क

रहेगा...शेष आप सभी विद्वान हैं, आपके समक्ष अधिक क्या कहूं...आप जो परामर्श देंगे...हमारे सिर माथे...।"

प्रबन्धक महोदय ने कुर्सी संभाली और टोपी को सिर से उतार कर पसीना पोंछा, पानी का गिलास चढ़ाया और अपने भाषण का प्रभाव जांचने के लिए सभागार में निगाह दौड़ाई।

छात्र गद्गद् हो रहे थे परन्तु प्राध्यापकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था, वे सरगोशियों में मस्त थे और सुच्चासिंह को घूर-घूर कर देख रहे थे और मुस्करा रहे थे।

सुच्चासिंह उठा और माइक की ओर बढ़ा। माइक संभाल कर बोलने लगा, "प्रिय छात्र नेताओ...सहयोगी बन्धुओ, प्रिंसीपल महोदय और प्रबन्धक कमेटी के माननीय सदस्यो...मैं... ।"

..."नीचे उतरो...मिस्टर सिंह...पहले प्रिंसीपल साहिब को बोलने दो...वही हमारे प्रतिनिधि हैं। मिस्टर सिंह आप हट जाएं अभी"। नीचे से कई आवाजें एक साथ उठ खड़ी हुईं तो सुच्चासिंह हतप्रद-सा देखता रह गया।

उसने कातर दृष्टि से प्रबन्धक की ओर देखा, फिर प्रैजीडैंट और प्रिंसीपल की ओर, फिर हाथ उठा कर सभी को शान्त रहने का संकेत किया, "मैं...मैं दो मिनट ही लूंगा, बोलना तो प्रिंसीपल साहिब ही को है"

"हां तो ..मुझे लगता है प्रबन्धक महोदय ने ठीक ही कहा है...कोई भी कालेज संस्कार की नींव पर ही टिकता है"...और उसने अपनी हकलाहट संभाल ली थी...अध्यापक ही तो समाज का आदर्श हैं...वही तो देश का निर्माता हैं...हमारा काम सिर्फ क्लासरूम में पढ़ाना ही नहीं

है बल्कि समाज के विकास को दिशा देना है... । यह देश ऋषियों का देश है...कर्मयोगियों का देश है...यहां लोग वेतन के लिए ही नहीं... विरासत की रक्षा के लिए अध्यापक बनते हैं । ...हमारी विरासत सम्पन्न है...प्रबन्धक महोदय ने ठीक ही तो कहा है...इनको सहयोग देना न केवल हमारा नैतिक कर्त्तव्य है बल्कि इसी में आध्यात्मिक तुष्टि भी है..."

"...अभी...अभी इन्होंने निष्काम सेवा की बात कही है, बड़ी मौजूं बात है । ऋषियों के इस देश में निष्काम सेवा और श्रमदान को सबसे बड़ा दान कहा गया है...गांधी जी और विनोबा जी के देशवासियों को श्रमदान पर भाषण की जरूरत ही नहीं...जिस कालेज के पास श्रमशक्ति है वह कभी निर्धन नहीं रहता..."

"मेरा तो परामर्श है कि हमें मलबा उठा कर फिर से नींव भर देनी चाहिएं । बिल्डिंग में सफेदी आदि करवा लेना ही उचित है ...वक्त भी थोड़ा है...इसलीए हम में जो जिस काम के योग्य है उसे वही काम करना चाहिए...हमें आज संकल्प लेना चाहिए कि हम तन मन से अपने-अपने काम में जुट जाएं । श्रमदान में यदि अनुशासन न रहे तो किया-कराया व्यर्थ हो जाता है...अतः मैं श्रमदान-यज्ञ में अनुशासन मेनटेन रखने के लिए समर्पित होता हूं । ...अभी-अभी प्रबन्धक महोदय ने मौटोज़ लिखवाने की बात कही है । बड़ा महत्वपूर्ण काम है यह... यदि प्रोफैसर अनुराग शर्मा चाहें तो दीवारों पर मौटेज़ पेंट करके महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं..." ...और वह शर्मा जी की ओर मुखातिब हुए, "क्यों शर्मा जी ?"

शर्मा जी इस अचानक वज्रपात के कारण कट कर रह गए थे। सभागार में सन्नाटा छा गया था । छात्रों...प्रोफैसरों...प्रबन्धक कमेटी ...सब के सामने वह क्या कहें...इन्कार कर नहीं सकते...रस्से से लटक

...सहर्ष दीवारें पेंट करने को तैयार नहीं...अजीब कशमकश में फंस कर रह गए थे शर्मा जी।

सभी प्रोफैसर उन्हीं की ओर देख रहे थे, आंखों में कुतूहल भी था और दया भी। परन्तु वे चुप बैठे थे। शर्मा जी भी चुप...। और सुच्चासिंह अपमानित-सा होकर प्रबन्धक महोदय की ओर कातर निगाह से देख रहा था।

प्रबन्धक महोदय ने निरीह हो उठे सुच्चासिंह को एक ओर धकेल दिया। दुबारा माइक संभाला। टोपी की नोक को सीधा किया और फिर से प्रोफैसरों के आदर्शों को झिंझोड़ने लगे। धीरे-धीरे उनकी आवाज़ बदल गई स्वर कठोर होने लगा।

एक भरपूर निगाह उन्होंने प्रोफैसर शर्मा पर डाली और स्वर में मुलायमियत भरते हुए बोले, "शर्मा जी सिर्फ सायकॉलाजी ही नहीं पढ़ाते ...इन्हें ड्राईंग का भी शौक है...इन्टरव्यू के वक्त इन्होंने अपनी पेंटिंग्ज दिखाई थीं तो मैं दंग रह गया था...बहुत मंजा हुआ हाथ है इनका... मौटोज़ का क्या है...वह तो किसी भी पेंटर से लिखवा लेंगे...पर शर्मा जी का कौशल...हमारे...किस काम का"! अटकते-अटकते ही सही, उन्होंने अपनी बात कह ही दी तो सभागार में सन्नाटा और भी गहरा हो गया...लोगों की निगाह शर्मा जी पर टिक गई...

तभी सुच्चासिंह बीच में आ गया... "नहीं...नहीं सर...ऐसी कोई बात नहीं...शर्मा जी ही लिखेंगे...श्रमदान के लिए तो यह तैयार हैं...मात्र कहने से झिझकते हैं...मीटिंग के बाद ही इनसे मिलकर रंग मंगवा लेता हूं...आप ज़रा कैशियर से कह दें..."।

श्रमदान शुरू हुआ।

सुच्चासिंह ने राउंड मुट्ठी वाली छड़ी सम्भाल ली और डिसिप्लिन मेनटेन करने लगा।

उसकी दाढ़ी खुली थी बाल बिखर गए थे...पगड़ी ढीली हो रही थी...परन्तु उसे इसकी परवाह नहीं थी। वह भागदौड़ कर रहा था ...छात्रों से मनचाहा उल्टा-सीधा काम करवा रहा था। छात्र नेता तो वहां थे नहीं...जो विरोध करते...और उनके अनुयायी चोट खाए सांपों की तरह फुफकार भी कर रहे थे और टोकरियों में मिट्टी-पत्थर भर-भर कर मैदान को समतल भी कर रहे थे।

सुच्चासिंह सारे कालेज में तना-तना डोल रहा था। सांस लेने की फुर्सत नहीं थी उसे।

शर्मा जी ने मन मार कर काम शुरू किया। कुछ छात्रों को साथ लेकर उन्होंने खिड़कियों और दरवाज़ों के ऊपर की पट्टियों को पुतवा दिया। यह काम उन्होंने कई छात्रों को सौंप दिया था। घन्टे भर में पट्टियां तैयार हो गई थीं और शर्मा जी रंगों को तैयार कर रहे थे।

एकाधबार सुच्चासिंह वहां आकर छात्रों की निगरानी कर गया था, उसे बड़ा अजीब लग रहा था यह सब, "शर्मा जी आप ने तो अनेक कामचोर लड़कों को काम लगा रखा है...जो टोकरी को हाथ नहीं लगा रहे थे वही यहां सीढ़ियों पर लटके हुए हैं।"

सुच्चासिंह को बार-बार उस तरफ आते देख शर्मा जी ने कहा, "मैंने सोचा एक दिन में ये पट्टियां तैयार हो जाएं तो रोज़-रोज़ सीढ़ी पर लटकने के बजाए एक-दो दिनों में लैटरिंग पूरी कर दूं।"

सुच्चासिंह के चेहरे पर क्षणांश के लिए मुस्कान उभरी, "दोस्त नौकरी में नखरा क्या...सीढ़ी पर तो क्या सूली पर भी लटकना पड़ता है।" और ठहाका लगा कर आगे बढ़ गया।

सुच्चासिंह लौट-लौट कर आता रहा और छात्रों के साथ-साथ शर्मा जी को भी उत्साहित करता रहा। शर्मा जी हां—हूं...करके उसे टाल जाते थे...चाहते तो उसे खरी-खोटी सुना देते पर—नहीं...यह उनका स्वभाव ही नहीं...फिर वह उसकी उतनी परवाह भी नहीं करते थे...जितनी उसके गले पर पड़े कांटेदार पट्टे की...सो हां-हूं...करके उसे टाल जाना ही बेहतर था...नहीं तो किस-किस कांटे को बीनते...

लगभग ऐसे ही डर से आक्रान्त अन्य प्रोफैसर भी लान, मैदान, लायब्रेरी, क्लासरूमज़ और फर्नीचर आदि का काम करा रहे थे। कालेज साफ सुथरा होकर नयी शक्ल अख्तियार करता जा रहा था।

शर्मा जी सीढ़ी पर चढ़े मौटोज लिख रहे थे एक हाथ में ब्रुश तो दूसरे में रंग का डिब्बा! कुछ छात्रों ने उनकी सीढ़ी को संभाल रखा था। शर्मा जी बार-बार रंग में ब्रुश भिगोते और मौटोज लिखते जाते। काम पूरी मुस्तैदी से चल रहा था। वह छात्रों से हंस बोल भी रहे थे और काम भी कर रहे थे।

उनका स्वभाव नम्र है, छात्रों से मित्रता-पूर्वक पेश आते हैं, पढ़ाने में उनका सानी नहीं। लड़के उनका सम्मान करते हैं। मात्र एक ही दोष है उनमें...उनकी आर्थिक हालत पतली है...इसे सुधारने के लिए अतिरिक्त मेहनत करते हैं...इतना वक्त नहीं बचता कि किसी सहयोगी से हिलमिल कर बातें करें, साथ ताश खेलें...या काफी हाऊस में ही जा बैठें...वह किसी को वक्त नहीं दे पाते तो किसी के प्रति कोई दुर्भावना भी नहीं रखते। सुच्चासिंह के प्रति भी नहीं...।

उन्होंने कभी उसका बुरा नहीं चाहा बल्कि कहते हैं...प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव स्वतंत्र है, मानसिक गठन स्वतंत्र है...आदतें और गुण-अवगुण उसके माहौल और स्थितियों की देन हैं। यदि सुच्चासिंह

के स्वभाव में तीखापन है तो इसमें उसका कोई काम्प्लैक्स काम कर रहा है। अगर वह प्रिंसीपल या प्रबन्धक कमेटी से बना कर रखना चाहता है तो बुरा ही क्या है ? असुरक्षा की भावना से संतप्त आदमी का व्यवहार कभी नर्म तो कभी गर्म हो ही जाता है...आदि...आदि।

अपने इन्हीं तर्कों के आधार पर वह सुच्चासिंह का भी सम्मान करते हैं जबकि उनके सहयोगियों और छात्रों के अपने अलग तर्क हैं, घृणा के अलग-से उफान हैं जो अक्सर उनमें बुदबुदाते रहते हैं।

काम जोरों पर था। शर्मा जी सुच्चासिंह को भूल गए थे। उनका मन कल्पना के घोड़ों पर सवार था। हाथ और ब्रुश नये-नये करिश्मे पैदा कर रहे थे, अक्षरों को नये-नये आकार मिल रहे थे। ...शर्मा जी के मनोभाव अक्षरों की बनावट में घुलमिल रहे थे...अक्षर कभी गंदम का सिल्ला तो कभी मक्की का भुट्टा प्रतीत होने लगते, कभी कमल के फूल तो कभी गुलाब के, कभी नीले जल में तैरते सफेद हंस तो कभी आंखें फाड़े-फाड़े देख रहे उल्लु, कभी गोल-गोल रोटी तो कभी स्वाभिमान में सिर उठाए ज़िराफ...ज्यों-ज्यों शर्मा जी के मस्तिष्क और हाथों का एकत्व घना होता जा रहा था उनका ब्रुश उनकी मनोभावनाओं को पकड़ता जा रहा था।

छात्र उनकी लैटरिंग से अचम्भित थे और उन्हें उत्साहित करते हुए उत्साह में वे स्वयं भी खिलखिला रहे थे...

तभी सुच्चासिंह वहां पहुंचा...उसे लगा अनुशासन भंग हो रहा छात्र मुंहजोर हुए हंस रहे हैं। वह भड़क उठा "शरम नहीं आती ...हो...हो...करते हो...कलाकार का ध्यान बंट सकता है...अक्षर बिगड़ रहे हैं...। और तुम...तुम"? कहते-कहते उसने हाथ की छड़ी एक छात्र की टांगों की ओर घुमा दी।

बेचारा छात्र ! घबरा गया। ...बचाव के लिए जैसे ही झुका सीढ़ी हाथ से निकल गई...एक धक्का-सा लगा और शर्मा जी नीचे आ गिरे...हाथ में पकड़ा रंग का डिब्बा छिटक कर दूर जा गिरा और गाढ़ा-गाढ़ा रंग सुच्चासिंह के चेहरे को रंगता हुआ कपड़े भी खराब कर गया...।

चीखकर छात्रों ने शर्मा जी को संभालने की चेष्टा की परन्तु अधिक मदद नहीं कर सके...सीढ़ी का एक डण्डा उनके घुटनों पर लगा था ..शर्मा जी पीड़ा से कराह रहे थे और सुच्चासिंह गालियां बक रहा था, "हरामियो मैं एक-एक को देख लूंगा...यह सब जानबूझ कर किया है...तुम लोगों ने..."।

वह गालियां भी बक रहा था और रंग से भीग गए चेहरे को पोंछता भी जा रहा था...।

छात्रों ने उसकी कोई परवाह नहीं की, वे शर्मा जी को संभाले हुए हस्पताल ले गए...

शर्मा जी काफी दिन हस्पताल रहे। नी-कैंप पर जरब आ गई थी...प्लस्तर चढ़ गया था...टांग सीधी रखे रहती, उठना-बैठना मुहाल हुआ जा रहा था।

कालेज की इन्स्पैक्शन हुई, फैकल्टी मंजूर हो गई। लोग दुबारा सभागार में एकत्रित हुए, प्रबन्धक महोदय ने प्रोफैसरों और छात्रों के श्रमदान की भूरि-भूरि प्रशंसा की और सुच्चासिंह ने शर्मा जी की लैटरिंग को खूब सराहा। उन्हें आदर्श प्रोफैसर का दर्जा दिया गया...

परन्तु शर्मा जी अभी हस्पताल में ही थे। प्रिंसीपल साहिब उनकी मिजाज़पुरसी के लिए एकाधबार आये थे...उन्हें मिली प्रशंसा से अवगत कराया और हाथ मिलाकर चले गए...कोई खास बात नहीं हुई थी...

महीने की सात तारीख थी...शर्मा जी वेतन का इन्तज़ार कर रहे थे...हस्पताल का खर्चा, उन्हें अलग से परेशान कर रहा था...टांग थी कि अभी दर्द कर रही थी...कालेज पूर्ववत स्थिति में चल रहा था... स्टाफ से कोई हस्पताल आता नहीं था...उपेक्षित शर्मा जी का भीतर छिल गया तो परेशान हालत में ही उन्होंने प्रिंसीपल को टैलीफोन किया, "सर मेरा वेतन...हाथ काफी तंग है...यहीं भिजवा दें...मेहरबानी होगी"।

तीसरे दिन प्रिंसीपल साहिब आये।

शर्मा जी ने चैक देखा तो चौंक उठे, "सर, वेतन इतना तो नहीं है।"

हां, शर्मा जी...आपकी छुट्टी तो थी नहीं। मैंने बहुतेरा कहा था पर प्रबन्धक माने ही नहीं। कह रहे थे, रूल तो सबके लिए एक जैसा है अमिट...शर्मा जी की लैटरिंग अच्छी है...पर जब तक सफेदी नहीं होती...खैर बीमारी के दिनों का वेतन काटकर बिल बनवा लें।" कहते-कहते प्रिंसीपल का गला सूख गया था और शर्मा जी की टांग में पीड़ा की लहर कुछ और तीव्र हो उठी थी।



व्यभिचारी

जून का सूरज पुरज़ोर दहक रहा था। सड़क की कच्ची भुरभुरी रेत मिली मिट्टी में काफ़ी तपिश थी और बेचारा जंगबहादुर, पसीने से सराबोर बार-बार रूमाल से चेहरा पोंछता हुआ चला जा रहा था... परन्तु चेहरे पर धूल मिली चिपचिपाहट दुबारा उभर आती थी... सैण्डिलों में भर गई रेत मिली मिट्टी उसके पांवों को छील रही थी... वह तेज़ नहीं चल पा रहा था। उसने छिदे कपड़े वाली छतरी तान रखी थी...परन्तु धूप इतनी तेज़ थी कि छतरी बेकार हुई जा रही थी।

अंधेरा घिरने से पहले ही वह रमेल सिंह के घर पहुंचना चाहता था... परन्तु पांव ऐसे छिल रहे थे कि चलना मुहाल हो रहा था।

हवा में बढ़ रहे सन्नाटे को महसूस करते हुए उसने अपने आप को कोसा जल्दबाज़ी में टार्च भी भूल आया था नहीं तो टार्च के सहारे चलता हुआ आधी रात को ही सही घर तो पहुंच ही जाता... रहा रमेल सिंह... उससे तो फिर भी कभी मिला जा सकता था। अब हालत यह थी कि बिना रमेल सिंह की शरण लिए गुज़ारा नहीं...खड्डों और पहाड़ों के कगारों के साथ-साथ बने रास्ते तो दिन में ही खतरनाक लगते

थे...मामूली सी ठोकर लगे कि आदमी कगार से नीचे गहरी खड्ड में जा गिरे...सोचते ही उसे लगा जैसे शरीर को लकवा मार गया हो.. क्या पता रमेल सिंह कैसा आदमी हो, उसे रात भर के लिए रोके भी नहीं... यदि न रोका तो...इस आशंका से उसकी रूह कांप गई...।

उसने घड़ी पर निगाह डाली साढ़े छः बज रहे थे सूरज ढलने को था, उसकी लाल किरणों से सलेटी रंग के रेतीले पत्थरों की रेत जगमगाने लगी थी और गरने की झाड़ियों में वलौंस बढ़ने लगी थी। सांझ की उमस भरी हवा में बसूटी के फूलों की महक तैर रही थी... मन हुआ कि कुछ क्षण बैठ लिया जाए...थका-शरीर और अलसाया-मन उस क्षण रमेल सिंह को भूल ही गया और वह बैठने के लिए जगह ढूंढने लगा लेकिन आसपास धूप से धूल–सनी घास भी न थी... । उसने अपने गिर्द निगाह दौड़ाई...उसे याद आया कि थोड़ा पीछे अमलतास के पेड़ के गिर्द चौंतरा–सा बना हुआ था...तब उसने ध्यान ही नहीं दिया था। अमलतास काफी फूला था परन्तु उसके पीले झौंर तब उसे आकर्षित ही नहीं कर पाये थे... । अब वह टिक न सका मन बेकाबू हो रहा था...वह पीछे मुड़ा और चल पड़ा...रमेल सिंह को उसने भुला ही दिया था...अमलतास के पीले झौंर लहकते हुए उसे बुला रहे थे।

पेड़ के तने के गिर्द पत्थरों का चौंतरा था। फूलों की झर गई पत्तियों की चादर-सी बिछी हुई थी...वह वहां बैठ गया... । सूरज की लाल किरणें पीले फूलों पर दमक रही थीं...अमलतास की खट्टी-खट्टी गंध उसे निढाल किए जा रही थी...तने के साथ पीठ लगा कर वह दूर तक देख रहा था, स्याह काले हो रहे पहाड़ उसे काफी सुन्दर

लग रहे थे।

...परन्तु वह अधिक देर वहां बैठा न रह सका। मक्की के खेतों में काम कर रही औरतें उसे देख रही थीं। उनके चेहरों पर आ रही मंद-मंद मुस्कान की लहरों में उसे कोई तीखा व्यंग्य-बाण दीख रहा था...''न जाने कैसा आदमी है यह...रात होने को आई और यह यहां बैठा है... क्या रखा है इन पीले फूलों और काले डंठलों में... जो इन्हें ही ताके जा रहा है...पागलों की तरह...हो सकता है यह राहगीर... चलने की बजाए रात रुक जाने का बहाना 'टोल' रहा हो...किसी के जाकर कह देगा...रात भर रुकने की जगह दे दो...कैसे-कैसे 'टुकड़बोच' आने लगे हैं इधर''.. जंगबहादुर अपने ही मन के आगे चोर अनुभव कर रहा था औरतें तो अपने काम में मस्त थीं।

उसका मन बोझिल हो उठा...क्या बेकार की नौकरी है यह... टूर के दौरान की हरेक रात वह दयनीय स्थिति में भोगता है...न चाहते हुए भी लोग उसे रोटी बिस्तर दे देते हैं। उनका नमक खाकर उसे छोटी-बड़ी ज़्यादती को सहन करना ही पड़ता है। बोझिल मन से वह उठा और चल दिया।

छतरी अभी भी खुली थी अच्छा भला आदमी अजूबा-सा लग रहा था। ...न धूप न पानी, छतरी तनी की तनी...। ...औरतों ने देखा तो मुस्करा कर रह गईं।

जैसे ही वह बस्ती के करीब पहुंचा तो जोरदार ठहाके सुनाई पड़ने लगे। दो तीन युवतियां थीं। अपनी झेंप को मिटाने के लिए उसने पूछा "रमेल सिंह का घर किधर है" ?

"वह रहा उनका घर।" संकेत करते हुए एक युवती ने दुबारा ठहाका लगाया। परन्तु वह फिर भी समझ न पाया। बेचारा-

सा आगे बढ़ा तो ठहाके पीठ को छेदने लगे .." न धुप्प न मींह...बाबू का तम्बू...हा...हा..." सुनते ही उसे ध्यान आया छतरी तो खुली ही रह गई थी, झेंप भरी मुस्कराहट उसके चेहरे को विकृत कर गई उसने तनी हुई छतरी की कमानी के छेद में फंसी माचिस की तीली खींच दी... फ़्साक्-सी छतरी सिमट गई ।

रूमाल से उसने चेहरे का पसीना पोंछा, बिखर गए बालों पर भी रूमाल फेरा, सूख गए गले को थूक उगल कर तर किया और घुटनों पर से फस्सक गई पैंट की क्रीज़ को अंगूठे और पहली उंगली में पकड़ कर खींचते हुए सीधा किया ।

वह कोशिश कर रहा था कि बैंक इन्स्पैक्टर दिखे, छोटा ही सही, है तो अफसर ही...चेहरे-मोहरे से लगे भी तो...काश पिता जी की नौकरी रिट्रेंचमेंट में न जाती...काश वह इन्जीनियरिंग न छोड़ता... काश कोई अच्छी नौकरी ही मिल जाती...वह अपने-आप में खोया हुआ था कि ठिठक कर रह गया...

एक भयंकर कुत्ता लपक कर सामने आ गया था और भौंकते हुए उसके तेवर और भी अधिक खतरनाक हो उठे थे...क्या पता कब टांग पकड़ ले...

बदहवासी में ही उसने छतरी की नोक उसे भोंक दी...कुछ डर से तो कुछ क्रोध में कुत्ता पैंतरे बदल-बदल कर बढ़ने लगा। उसने पत्थर फैंके परन्तु बेकार...वह पीछे हटता भी तो फिर से दुगुने जोश में आगे भी बढ़ आता। कुत्ते को रोकने वाला भी कोई नहीं था, फासले पर खड़ी युवतियां वैसे ही ठहाके लगा रही थीं। उसे कुछ भी सूझ नहीं रहा था, जान हलक में आ फंसी थी और टांगें कांप रही थीं— बदहवासी में ही उसने फड़ाक्-सी छतरी खोल दी...बेचारा कुत्ता

घबरा कर भाग निकला। ...अब दूर हट कर भौंक रहा था और जंगबहादुर ती हुई छतरनी की ढाल बना कर आगे बढ़ रहा था।

"शेरू नहीं... शेरू...ओ शेरू..." ! तभी किसी ने कुत्ते को पुकारा। आवाज़ महीन थी पर रुआबदार।

कुत्ता मुड़ा। पहले पिछली टांगों में पूंछ समेटी, फिर खुली छोड़ हिलाने लगा। अब वह गुर्रा रहा था। जंगबहादुर ने भी छतरी बंद कर ली थी। सामने बीस-पच्चीस वर्ष की लड़की खड़ी थी। "किससे मिलना है आपको... ?"

परन्तु वह तो अभी भी अपने-आप में नहीं आ सका था। उसने औसान संभाले तो दुबारा पूछा गया, "किससे मिलना है आपको ?"

"जी रमेल सिंह जी के घर... ।"

"अच्छा। आओ.. बापू घर में ही हैं।" कहते हुए उसने रास्ता छोड़ा और कुत्ते को ज़ंजीर डालने लगी !

रिटायर्ड हवालदार रमेल सिंह बाहर निकला। भिंची-भिंची-सी आंखें, ठिगना-सा कद, सिर पर तेल से चिपचिपी हुई टोपी, शेव बढ़ी हुई। उसके चेहरे पर भुसभुसी मुस्कान उभरी, "मैंने आपको पहचाना नहीं ?"

"मैं बैंक इन्स्पैक्टर हूं, पहली बार आया हूं, पिछले ही दिनों वरमजीत की जगह तबादला हुआ है, सोचा, एक बार सर्किल देख लूं..." कहते-कहते ही उसे लगा जैसे रमेल सिंह के चेहरे की भुसभुसी मुस्कान गायब हो गई हो। जंगबहादुर को धक्का सा लगा, मन में अंधकार-सा फैल गया...यदि इसने उपेक्षा कर दी तो वह रात कहां ठहरेगा...इसी भय की गिरफ़्त में आए जंगबहादुर ने कैफियत दी, "सोचा था कि रात

होते-होते 'डेरे' 'पहुँच जाऊंगा...परन्तु बस ही निकल गई। कितनी दूर होगा शहर ?"

"है तो सात-आठ कोस ही...पर चढ़ाई-उतराई काफी है।"

"खड्ड के रास्ते तो थोड़ा ही होगा ?"

"हां थोड़ा ही है...पर अंधेरा बढ़ गया है। आप रात यहीं रहें, सुबह चले जाना...काम भी तो देखेंगे न !" हवालदार ने कहा तो जंगबहादुर को लगा जैसे छाती पर पड़ी चट्टान हटा ली गई हो। हवालदार के चेहरे पर उभरने वाली भुसभुसी मुस्कान भी उसे सुखद लगने लगी।

हवालदार ने लालटेन जलाई। उसे अंदर बिठाया और स्वयं भीतर चला गया। कमरे में जंगबहादुर अकेला रह गया था। वह मकान का जायज़ा लेना लगा।

जिस कच्चे कमरे में वह बैठा था उसमें कुछ दिन पहले ही गोबर पोता गया था। दीवारों से हटा कर सलेटी रंग की सफेदी से कच्चे फर्श पर हाशिया बना दिया गया था। कमरे में एक और धान के फूलों से बनी बंदरी (फर्शी दरी) बिछी थी, दूसरी ओर एक चारपाई थी। जिस कुर्सी पर वह बैठा था उसके साथ ही थोड़ा हटा कर तीन टांग वाला एक टेबुल पड़ा था। कमरे की छत कच्ची थी, दो बड़े शहतीरों के सहारे अनतराछी बल्लियों के ऊपर बांस की खाचियां बिछा कर मिट्टी डाल दी गई थी। उसकी कुर्सी उन्हीं में से एक थम्मी के निकट पड़ी थी।

कमरे की एक दीवार में बने आले में सहकारी समिति के रजिस्टर पड़े थे। चारपाई के पीछे वाली दीवार में किल्ली ठुंकी हु

थी जिस पर कानियों का बना छाज लटक रहा था। एक दीवार पर देवी-देवताओं और नेताओं के कैलेण्डर साथ-साथ लटक रहे थे। चौथी दीवार पर फौज़ी ग्रुप फोटोज की लम्बी कतार थी, लालटेन की रोशनी में कोई चेहरा साफ नहीं दिख रहा था।

वह फोटोज ही देख रहा था कि हवालदार आ गया। संकोचवश उसे कुर्सी पर बैठना पड़ा। अब हवालदार भी 'बंदरी' पर बैठ गया और उसने झिझकते हुए पूछा, "आप कौनसी जात के हैं ?"

"ब्राह्मण।"

"ब्राह्मण ! आपने पहले क्यों नहीं कहा ? खैर, मुझी से भूल हो गई...क्षमा करना।" फिर हवालदार ने हांक लगाई, "सवित्री...ओ... सवित्री...बाउ जी को पानी पिलाया तूने ? ...लोटा भर ला...चा भी बना ले।" अब वह जंगबहादुर की ओर मुड़ा, "आप बुरा न मानना घरवाली का 'धरमकरम' में बड़ा 'जकीन' है...धरमजीत का तो उसे पता ही न था...कितने ही दिन बर्तन रगड़ती रही...कहती है रसोई भ्रष्ट हो गई है...।" कहते-कहते हवालदार हंसा, "फौज़ में तो 'जातपात' चलती नहीं।"

"हां भई घर में तो घरवाली का ही कानून चलेगा न।" जंगबहादुर ने मुस्कराते हुए कहा तो हवालदार खिलखिला उठा, "आप तो मज़ेदार आदमी हैं। शादी हो गई है आपकी ?"

"नहीं तो...क्यों ?"

"बस ऐसे ही।" हवालदार मुस्करा भी रहा था और उसे परखती निगाह से आंक भी रहा था, "कहीं बात तो चल ही रही होगी ?"

"नहीं...नहीं...अभी तो नहीं...।"

तभी जंगबहादुर ने देखा, सवित्री सामने खड़ी थी पानी का लोटा हाथ में लिए मुंदी-मुंदी-सी चेहरे पर लोनाई, आंखें रतनार परन्तु बुझी-बुझी-सी, देह अमलतास के फूलों सी खिली-खिली। जंगबहादुर ने उसे ध्यान से देखा तो लगा जैसे सौंदर्य का सांवला सागर उसके समक्ष शांत खड़ा हो मुंदा-मुंदा-सा...गम्भीर। लोटा थमाते वक्त उसकी उंगलियों के पोर जंगबहादुर के जिस्म में ठण्डी लहर-सी भर गए, वह उसे देखता ही रह गया था...।

न जाने उसकी आंखों में क्या देखा था सवित्री ने कि जब वह लोटा लिए आंगन में आ गया तो वह भी पीछे-पीछे आ गई थी। इस दफा उसने साबुन और तौलिया भी ले लिया था और तौलिया बाजू पर लटकाए पास ही खड़ी हो गई थी। जंगबहादुर को वह और अधिक सुन्दर दिखने लगी थी...।

सब से पहले उसने सैण्डिलों की मिट्टी झाड़ी। उन्हें साफ किया। सैण्डिल झाड़ते हुए उसे अपने ब्राह्मणत्व पर हंसी आई थी... वाह रे ब्राह्मण, घर में भ्रष्ट और यहां पूज्य देवता! पांवों की छिली चमड़ी में टीसें उठ रही थीं। पांव धोते हुए उसे राहत सी महसूस हुई।

सवित्री और पानी ले आई थी और वह साबुन मल-मल कर चेहरे को धो रहा था। ठण्डे पानी के छींटों के साथ चेहरे की चिपचिपाहट और अजनबीपन धुलता जा रहा था और एक खास तरह का वर्गीय अपनत्व उसके मन में सिर उठाने लगा था, हालांकि फील्ड में वह कभी भी ब्राह्मत्व नहीं निभा सका था।

"गांवों में जहां न धर्मशाला हो न होटल-ढाबा, वहां या तो रात काटो या ब्राह्मणत्व चाटो, जिसका नमक खाओ उसे टेढ़ा भी देखो!" वह

ऐसा नहीं कर पाया था तो अपने ही घर में भ्रष्ट-ब्राह्मण होकर रह गया था। बावजूद इस सच्चाई के जब उसने अपने मन में वर्गीय अपनत्व को महसूस किया तो रमेल सिंह उसे अपना सगा-सम्बन्धी-सा प्रतीत होने लगा।

मुस्कराता हुआ वह भीतर पहुंचा। रमेलसिंह 'बंदरी' पर ज्यों का त्यों बैठा था। चेहरे पर खुली-खुली मुस्कान थी।

"बाऊ जी चाँ ही पियेंगे या कुछ...पैन्शन लेने गया था तो कन्टीन से 'रम' भी ले आया था।"

जंगबहादुर झिझका परन्तु जब झिझक को धमनियों में रींगती थकान ने दबा लिया तो बोला, "सिर्फ एकाध पैग ही लूंगा।" फिर माहौल को रंगीन बनाए रखने की गर्ज़ से चहक कर बोला, "चलो आज की शाम...ऊबड़-खाबड़ रास्तों के नाम...।"

रमेलसिंह इस वक्ती-शेर को सुनकर खिलखिला उठा। वह प्राइमरी नहीं कर पाया था या तो ऊबड़-खाबड़ खड्डों का रास्ता चलता या पढ़ता। कद भी छोटा ही रह गया था परन्तु था स्वस्थ। अट्ठारह की आयु होगी कि भरती दफ़तर जा पहुंचा था। 'लाम' पर भेजने के लिए अंग्रेजी सरकार को युवकों की तलाश थी। उसका शरीर पसंद आ गया था। फिर घोड़े संभालते, उन्हे चारा चराते, सवारी करते और दौड़ाते हुए वह चालीसवें में पहुंचा तो हवालदार होकर रिटायर हो गया। तब तक वह एक-पर-एक तीन लड़कियों का बाप बन गया था।

ज़मीन अधिक नहीं थी, तीन चार एकड़ बंजर जमीन में सिवाए घास के कुछ उगता नहीं था, जमा पूंजी से उसने किराने की दुकान खोल ली। सहकारी समिति बनवाई और सचिव बन गया। धीरे-धीरे डाकखाने का काम भी संभाल लिया अब जैसे-कैसे रोटी चल रही थी कुछ पैन्शन भी मिल जाती थी।

पीते-पीते रमेल सिह भावुक हो उठा तो घर की बातें छेड़ बैठा। जंगबाहदुर आराम से बैठा पी भी रहा था और उसकी दुःख-भरी गाथा भी सुन रहा था, उसे लगा कि रमेल सिंह की भिची-भिची आंखें नम हो उठी हैं और गला भर्रा गया है मानो वह बुक्का फाड़ कर रोने को हो, "बुरा हो धरमजीत का...न जात छिपाता...न रसोई भ्रष्ट होती...न कुल देवता रूठते...न आघात पर आघात सहन करने पड़ते... बाऊ जी मेरी तो रूह अब भी काँप जाती है...उस कगार को देख कर! ...मंझली लड़की घास काट रही थी, चिकनी घास पर से नंगा पाँव फिसल गया...बेचारी संभल ही न पाई...नीचे गहरी खड्ड थी, मुंह बाए पड़ी हुई 'राक्षसिनी' की तरह...मंझली को भूले नहीं थे कि शामो को 'कीड़े' ने काट लिया। 'गोहटे' लेने गई थी, 'गोहड़' में...घना अंधेरा था, 'दीवे' की टिमकती रोशनी कुछ न कर सकी...गोहटों में हाथ डाला ही था कि कीड़े ने 'पलेस' डाल कर हाथ भभोड़ लिया। इधर मुंह से चीख निकली उधर आंखों के आगे अंधेरा छा गया, बेहोश हो गई वहीं... जब तक हम पहुंचे जिस्म नीला पड़ गया था...कीड़ा मारा भी गया... पर क्या होता है मारने से...।"

वातावरण बोझिल हो गया था परन्तु जगबहादुर चुपचाप उसे सुन रहा था, वह चाहता था कि रमेलसिंह अपने मन का गुब्बार निकाल फैंके बल्कि उसे रमेलसिंह की दुःख-गाथा बेमेल नहीं लग रही थी, वह भी तो ऐसी ही दुःख-गाथा में फंसा हुआ था, 'यदि पिता जी की नौकरी न जाती, परिवार ही बड़ा न होता, ग़मग़लत करने के बहाने शराब की लत ही न पड़ी होती तो वह भी इन्जीनियर होता, बीसियों किलोमीटर खड्डों में धक्के न खाता फिरता'...रम की झोंक में बहता हुआ वह अपने अतीत के गर्तों में डूब-सा गया था...तभी रमेल सिंह की थरथर्राती आवाज़

सुनाई पड़ी, ''घर वाली तभी से बीमार है, फोड़े हो जाते हैं तो महीनों भरते नहीं...काफी इलाज करवाये...जोंकें भी लगवाई कि गंदा खून चूस लेंगी...पर कुछ नहीं हुआ। 'डाक्टर' हे मराज स्याना है, मिलनसार भी...दो बार देख गया है...नहीं तो, कौन आता है खड्डों में चलकर, परमात्मा उसे लम्बी 'उमर' दे...पर यह ठीक नहीं हुई...।''

भीतर ही भीतर जंगबहादुर भी आर्द्र हो उठा था वह अपना परिवार न संभालता तो उसकी दु:ख-गाथा भी कैसे पलटती ? उसे लगा, यदि रमेलसिंह में आत्मविश्वास जागे, और वह उत्साहित हो जाए तो सब संभाल लेगा।'' रम की झोंक में ही बहते हुए उसने रूंधे गले से पूछा ''हवालदारिन से मिल लूं ?''

''मैं पूछ लेता हूं...जब से कमज़ात धरमजीत ने धोखा दिया है, वह बाहर के आदमी से मिलती ही नहीं। नाक रगड़ने से भी तो कुलदेवता नहीं माने न...क्या वे भी 'जातपात' में 'जकीन' करते हैं ?'' रमेलसिंह ने पूछा।

जंगबादुर चुप रहा, बेचारा वह कहता भी क्या ?

रमेलसिंह भीतर चला गया तो वह वहम और गरीबी में फंसे इस परिवार के प्रति सोचता रहा। रम की झोंक में ही उसे सड़कछाप दवा फरोशों के मज़मे और भूत-प्रेतों के किस्से याद आते रहे, ये अक्सर कहा करते कि लोहे से ही लोहा काटा जा सकता है और हीरे से ही हीरा, तभी उसे लगा कि वहम से ही वहम को भी काटा जा सकता है, जादु-टोना उतारने वाले ओझा भी तो यही करते हैं, सोचते-सोचते उसे लगा कि अपने भ्रष्ट ब्राह्मणत्व के सहारे वह रमेलसिंह के परिवार को बचा सकता है। अब वह मन ही मन योजना बना रहा था

...जब रमेलसिंह लौटा तो जंगबहादुर निश्चिंत था, योजना तैयार थी।

उसने चारपाई पर बैठी हवालदारिन को अभिवादन नहीं किया, मात्र टकटकी बांधे उसकी आंखों में देखता रहा...फिर उसने हाथ का खुला पंजा उसकी ओर फैलाया और कुछ उल्टा-सीधा बुड़बुड़ाने लगा... अचानक उसने सवित्री की ओर देखा और जोर से चिल्लाया..."पानी...।"

सवित्री पानी लाई तो उसने बुड़बुड़ाते हुए पानी के छींटे हवालदारिन के चेहरे पर फैंकने शुरू किए...शराब के नशे से लाल हुई उसकी आंखें क्रोध से अंगार बनी जा रही थीं। उसने चीखते हुए ही झाड़ू मांगा और हवालदारिन की आंखों में आंखें डालते हुए चीखा, "निकल जा...नहीं तो झाड़ू से तेरी "सढ़िया" सेंक दूंगा.. अच्छा नहीं निकलेगा? ...चाहता क्या है...? जंगल...? तू इस घर को जंगल बना कर छोड़ेगा...? मैं तुम्हें छोड़ूंगा तब न...।" ..."बोतल लाओ...इसे बोतल में बंद कर दूंगा।" उसने झाड़ू को फटकारते हुए चीख कर कहा। ...अच्छा...चला जाएगा...? खाने को दूं? क्या तेरे बाप की 'पंधाड़ी' देनी है...इन्हें? ...बोतल में बंद न करूं...? लगती है? झाड़ू न मारूं? क्यों...तू कौन भला 'मानुस' है? ...चलो छोड़ दूंगा। बोल कहां पहुंचा दूं? ...कगार के पीपल पर...? ...दाल चावल दिलाऊं ...? फिर तो नहीं लौटेगा? नहीं.. न?"

जंगबहादुर ने झाड़ू फटकारना बंद कर दिया, उसने हवालदारिन के बिस्तर के चारों ओर झाड़ू फेर दी और दरवाजे की दहलीज से बाहर निकल आया। रात को अंधकार बढ़ गया था। रमेल सिंह आगे-आगे था दाल और चावल लिए हुए। वे पीपल के पास पहुंचे।

जंगबहादुर ने पीपल के तने की ओर घूरते हुए देखा, "चलो... 'टीसी' तक चढ़ जाओ! . लो खाओ...।" उसने दाल चावल की मुट्ठी पीपल के शिखर की ओर फैंकी... "खबरदार...नीचे न उतरना...

मैं पीपल को ब्रह्मपाश दे रहा हूं...भस्म हो जाओगे... ।" कहकर उसने पीपल के तने के गिर्द झाड़ू फेर दिया और वही झाड़ू रमेल सिंह के सिर पर से भी घुमा दिया और कहा, "इसे अमावस की रात ऐसे ही दाल चावल देते रहना ।"

लौटते हुए वे दोनों प्रसन्न थे। जगबहादुर अपने अभिनय पर और रमेल सिंह अपनी किस्मत पर। हवालदारिन की आंखों में चमक लौट आई थी। वह उन्हें देख कर मुस्कराई परन्तु ठुड्डी का फोड़ा कस गया, चेहरे पर पीड़ा की लकीर खिच गई, जिससे चेहरा विद्रूप हो उठा तो जंगबहादुर ने कहा, "अब घर में कोई बला नहीं रही, महामाया की कृपा से सब कुछ ठीक जाएगा ।"

साथ ही खड़ा रमेल सिंह उसके पांवों पड़ गया, "पण्डित जी, आप तो भगवान बनकर आए हैं...मेरे तो 'भाग' खुल गए...यह ठीक हो गई तो 'उमर' भर दबा रहूंगा आप से... ।"

"नहीं भाई। मैंने क्या किया है...यह तो सिद्ध बाबा का आदेश था...उन्हीं का मंत्र था...लोक-सेवा के लिए दिया था...मुझे लगा हवालदारिन मंत्र की हकदार है... सो... ।"

सारा परिवार गद्गद् था। जंगबहादुर ने एक पेग और चढ़ा लिया। रमेल सिंह भी काफी देर पीता रहा।

जब तक खाना तैयार हुआ, रात काफी बीत गई थी। जंगबहादुर चारपाई पर पड़ा था। मन ही मन वह प्रसन्न था कि उसका तुक्का तीर बन गया था..."चलो भ्रष्ट ब्राह्मत्व ही सही किसी काम तो आया ...वह परिवार संभल जाए तो सकून ही मिलेगा...दुआ अलग...इज्जत अलग... । उसे याद आया, रात का खाना...सचित्री खुद परोस रही

थी...क्या बढ़िया खाना था। उसे लगा था, सवित्री की आंखों में रागानुराग की तरंगे उमड़ रही हैं, मुग्धा-सी वह उसे देखती है और आंखें झुका लेती है...अपने-आप में डूबी-डूबी सी कभी दुपट्टा संभालती है...कभीं बाल समेटती है। रागानुराग में पगी-सी सवित्री उसे बहुत सुन्दर लगी थी...दो चार बार उनकी आंखें भी मिली थी...परन्तु मिलते ही उसकी रतनार आंखें झुक जाती थीं... ।" बिस्तर पर पड़े-पड़े वह सोने का यत्न कर रहा था परन्तु नींद आ नहीं रही थी। उसने घड़ी देखी...डेढ़ बज रहा था।

अचानक उसे लगा जैसे भीतर से हल्की-हल्की पदचापें उसके कमरे की ओर आ रही हैं। उसने आंखें मूंद ली, दीवार की ओर चेहरा कर लिया...परन्तु कान पदचापों की ओर ही थे...तभी धीमे से भीतरी दरवाज़े की कुण्डी खुली...बे-आवाज़...सा किवाड़ हिला...पट खुला... और कोई भीतर घुस आया...आकर 'बन्दरी' पर लेट गया।

जंगबहादुर कुछ देर तक दम साधे पड़ा रहा, फिर उसने करवट बदल ली। अब वह 'बन्दरी' की ओर देख सकता था...परन्तु वह आंखें मूंदे पड़ा रहा। 'बन्दरी' पर हल्के सी चूड़ी खनकी तो उसके दिल की धड़कनें बढ़ गईं...'बन्दरी' पर सवित्री ही थी...लेकिन क्यों? वह बूझ नहीं पा रहा था...बुद्धि कुण्ठित होकर रह गई थी...परन्तु शरीर के निचले अंगों में तनाव बढ़ता जा रहा था। मुंदी आंखों वह पड़ा तो था परन्तु...उसे लगा, सवित्री 'बन्दरी' पर करवटें बदल रही है, हालांकि उसने चूड़ियों को कलाई में ऊपर की ओर चढ़ा कर कस रखा था फिर भी कभी-कभार वे खनक जाती थीं। उसे लगा वह किसी षड़यन्त्र में उलझता जा रहा है परन्तु वह पड़ा रहा... ।

अचानक उसे अपने बहुत करीब गर्म सांसें महसूस हुई परन्तु वह पड़ा रहा, उसे लगा सवित्री ने दोनों हाथों से उसकी चारपाई की पट्टी पकड़ ली है। चूड़ियों की खनक उसके कानों में बहुत निकट थी...फिर उसे लगा उसके गालों को सवित्री के बाल छू रहे हैं, अजीब सी सरसराहट और मीठी-मीठी सिहरन उसके गालों पर चल रही थी परन्तु वह पड़ा रहा। फिर लगा एक नर्म-गर्म चेहरा उसके गालों को रगड़ रहा है, अब वह और अधिक बना न रह सका...उसने आंखें खोल दी...धीमे से बोला "कौन है ?" "मैं, सवित्री।" स्वर उतना ही मद्धिम था परन्तु वह उसे घसीट रही थी, "नीचे चलो,...'बन्दरी' पर...।" वह विवश-सा घिसटता हुआ नीचे उतरा।

अब दोनों 'बन्दरी' पर थे। सवित्री ने एक हाथ उसके मुंह पर चिपका दिया, "बस चुप्प रहो" और दूसरे हाथ से उसके जिस्म को सहलाने लगी। जंगबहादुर गुम सा हुआ अपनी ही टांगों में सिमटता जा रहा था परन्तु सवित्री का हाथ...ज्योंही टांगों की ओर नीचे पहुंचा...तो वह सिसकार उठी। ...पराजित-सा वह गुम-सुम पड़ा था और सवित्री धीरे-धीरे हावी होती जा रही थी...धीरे-धीरे...वे नंगे थे।

सवित्री गई तो अढ़ाई बज रहे थे। उसे नींद आई तो...सुबह आठ बजे ही उठा, वह भी तब, जब सवित्री ने ही आकर कहा "बाऊ जी...चॉ।" उसकी आंखों में शरारत थी परन्तु जंगबहादुर गुम हुआ जा रहा था। "मां पूछ रही थी...शहर में आप कहां रहते हैं...कभी हम आएंगे तो मिलेंगे।" परन्तु जंगबहादुर का चेहरा ऊपर नहीं उठ रहा था। उसने चाय ले ली तो सवित्री चली गई।

रमेल सिंह मिला तो वही परिचित मुस्कान थी...हवालदारिन भी शायद निश्चित सोई थी...माहौल में कोई परिवर्तन नहीं दीख रहा

था...मात्र सवित्री ही दौड़-दौड़ कर काम कर रही थी, वह प्रसन्न थी, "बाऊ जी अब तो मां ठीक हो जाएगी न।" कहा तो जंगबहादुर अचकचा गया, "हां भई तुम्हारी सेवा...से भी ठीक न होंगी वे?" कनखियों में मुस्कराती हुई सवित्री चली गई तो वह आश्वस्त हो गया।

नहा धोकर वह तैयार हुआ तो रमेल सिंह रजिस्टर ले आया। कैश-बुक, लैजर और वाउचरों का मिलान करके उसने आमदनी-खर्च निकाला और आडिटिड बैलेंसशीट के सहारे नये साल का वर्किंग कैपिटल निकाला। जब उससे नकद रोकड़ के अंक देखे तो चौंक उठा... "गड़बड़...। थोड़ी भी नहीं...हज़ारों की..." परन्तु वह बोला कुछ नहीं सरसरी निगाह से रमेल सिंह की ओर देखता रहा, उसे लगा कि रमेल सिंह की आंखों में पहले जैसा अजनबीपन आ रहा था, चेहरे पर वह गुसभुसी मुस्कान लौट रही थी। मन ही मन वह घबरा उठा, हज़ारों का घपला...रात में सवित्री का आना...उसकी आंखों के आगे अंधकार छा गया, लगा जैसे वह जाल में फंसा लिया गया हो।

परन्तु वह रह न सका तो कह ही गया, "रोकड़ नहीं मिल रहा, कोई वाऊचर छूट तो नहीं गया?"

"नहीं पण्डित जी...कहीं आप से ही तो भूल नहीं हो रही... फिर से देख लो।" रमेलसिंह की आंखों में काईयांपन था और चेहरे पर अजनबीपन। उसका स्वर चुनौती भरा था, अफसरी दंभ को चोट पहुँचाता हुआ-सा।

उसने सिग्रेट सुलगाई और दुबारा जुट गया, परन्तु गलती नहीं मिली...फिर.. कैश बैलेन्सशीट के आंकड़े कौंध गए। पिछला नकद 5000/- की जगह 3000/-?

अब जंगबहादुर के तेवर बदल गए, वह गुस्से से बिफर पड़ा, "यह क्या है, 5 की जगह 3 ? जिस्म का सारा रक्त उसके चेहरे पर आ गया था।

रमेल सिंह की पोल खुली तो घबराकर बेचारा-सा वह उसके पांवों पर गिर पड़ा, "पण्डित जी क्षमा करें...मंझली मरी थी तो 500/- रुपया निकाला था। सोचा था बाद में भर दूंगा...पर भरने के बजाए ...और निकालना पड़ा...अब आप की कृपा हुई है...घरवाली ठीक हो जाएगी तो सारा भर दूंगा...जैसे भी हो इस दफा बचा लो...।" वह पांव नहीं छोड़ रहा था।

बेचारा जंगबहादुर फंस-सा गया, कुछ अपने अभिनय के चक्कर में तो कुछ सवित्री के चक्कर में...परन्तु करे भी क्या, चाह कर भी उसे छोड़ न सकता था...हिसाब की गड़बड़ को कैसे छिपा दे? उधर रमेल सिंह था कि उसके पैर छोड़ ही नहीं रहा था।

जंगबहादुर ने सवित्री को उधर आते देखा तो सिहर उठा, उसकी आंखें लाल-लाल हो रही थीं, लगता था जैसे वह रोई हो, कहीं कुछ कह न दिया हो...उसे लगा, हड्डियां टूटेंगी, सिवाए पालतू हो जाने के चारा नहीं था। उसका सामना कर पाने में वह असमर्थ-सा हुआ जा रहा था।

"बाबू जी थोड़ा दूध पी लें..." सवित्री ने कहा। उसकी आंखों में कातरता थी।

जंगबहादुर को राहत मिली, जबकि सिर पर से खतरा टला नहीं था, धरमजीत तो बच गया था परन्तु वह... ?

"हवालदार जी आप भी दूध पी लें, मैं कुछ सोचता हूँ, शायद कोई ढंग निकल आए।" सवित्री से जान छुड़ाने के लिए कहा।

दूध पीते-पीते जब जंगबहादुर ने कहा कि आपके नाम परनोट भरवा देता हूं...तीन साल तो कोई पूछेगा भी नहीं। तो रमेल सिंह के चेहरे पर पुनः भुसभुसी मुस्कान उभर आई, "पण्डित जी...आप मालिक हैं...जैसे ठीक समझें...बस मुझे बचा लें...।"

जंगबहादुर अब निश्चिंत था, सारा काम अण्डररूल हो गया था, हालांकि रमेल सिंह के चेहरे पर भुसभुसी मुस्कान ज्यों की त्यों थी, पहले जैसा अजनबीपन उमड़ आया था।

वह चला तो हवालदारिन ने दहलीज़ तक आ कर पायलागू कहा...परन्तु सवित्री कहीं नहीं दिखी...।

आंगन से निकल वह खड्ड की उतराई में पहुंचा। सामने सवित्री घड़ा उठाये चली आ रही थी। ...वह जल्दी-जल्दी उतरने लगा ताकि सवित्री से निगाह-ओझल मिले। सवित्री के निकट पहुँचा तो उसने चाल धीमी कर दी, सवित्री ने भी सिर पर से घड़ा उतार कर रख दिया था और रास्ता दिखाने के बहाने उसके साथ-साथ चल दी थी।

जंगबहादुर को लगा कि वह कुछ कहना चाहती है...परन्तु कह नहीं पा रही। चलते-चलते जैसे ही रास्ता मुड़ा तो वह रुकी। पहले आगे दूर तक देखा...फिर पीछे की ओर...कहीं कोई नहीं था।

सवित्री उसके निकट आ गई। वह फिर घबरा सा उठा।

"बाऊ जी आते जाते रहा करो...रात को नींद तो आ गई थी न ? आंखों में तो अभी भी खुमार है।"

जंगबहादुर की आंखें झुक गईं, मैं शर्मिंदा हूं...पर तुमने ही तो...।"

"कोई बात नहीं हुई...न होगी। ...मैं जानती हूं...कई बरसों से देख रही हूं...हर बरस अमलतास खिलता है और काले डण्ठल छोड़ कर बिखर जाता है...फूलों को संभाले नहीं रखता...मैं ही क्यों...फूल समेटे रहूं...मन हुआ तो शहर आऊंगी..." कहकर एकाएक उसने उसे आलिंगन में कस कर चूम लिया।

ब-मशक्कत वह आलिंगन से छूट कर औसान संभाल रहा था कि सवित्री उसे आगे का रास्ता समझाने लग पड़ी।



तलाश

"पाल साहिब। पाल साहिब।" यादव हकलाता हुआ-सा यूरिनल में घुसा और कांपती उंगलियों से जिप्प खींच ली...उसका चेहरा पीला पड़ गया था, आंखों की कोरें भीग रही थीं, सिर के छंटे-छंटे बाल खड़े हो गए थे। वह इतना घबरा गया था कि पैंट आगे से भीग गई थी।

वैसे वह यहां नया ही आया है, पढ़ा-लिखा और बहुश्रुत है, हंसमुख इतना कि बातचीत में चुटकला या कहानी सुना देता है और दोस्तों की छोटी-सी जुण्डली में खूब चहकता है।

दो क्षण पहले ही वह चहक रहा था लेकिन अब उसकी घबराहट बेकाबू हुए जा रही थी।

"क्या हुआ ?" पाल चाह कर भी न पूछ सका क्योंकि अभी तक वह यूरिनल पॉट के साथ फंसा-फंसा खड़ा था।

फारिग हुआ तो भीग गई पैंट को देख-देख कर झेंपता रहा बोला कुछ नहीं...।

चलते-चलते वे नल के करीब आ गए थे और यादव झट से

आगे बढ़ कर खुले नल के नीचे हाथ मलने लगा था, उसके हाथ काफी तेज़ चल रहे थे और पानी के छींटे पैंट पर पड़ रहे थे, पैंट और अधिक भीग गई थी।

"हाथ धोते-धोते ही भीगी है न।" पाल ने व्यंग्य-सा बोला लेकिन वह फिर भी मुस्कराता रहा। अब उसके चेहरे पर स्वाभाविक रक्ताभा आ गई थी।

"काफी घबरा गए थे तुम।" पाल ने कहा। "हां...वह आ रही थी...वही उस दिन वाली महिला।"

"अच्छा।" और पाल की उत्सुकता एकदम कुण्ठित होने लगी।

अब पाल के चेहरे पर भी दहशत का भाव था, मन में भय समाता जा रहा था, लग रहा था जैसे उसकी इज्जत ही दाव पर लग गई हो। यदि वह फिर पीछे पड़ गई तो...एक अजीब आफत उसे सिर पर मण्डराती हुई अनुभव हो रही थी...।

वह शहर का खास चौक था, सिनेमा घर की भीड़ थी। ट्रैफिक पुलिस की चौकी थी और जाने पहचाने दुकानदार थे...वहां वह हाथ पकड़ लेती तो मुसीबत खड़ी हो जाती, बिना उनकी सुने लोग उन पर टूट पड़ते, 'वह मारा वह मारा" चिल्लाते हुए उन पर टूट पड़ते तो कोई पसली साबित न रहती . । इसी भय से ग्रस्त वे दोनों सिनेमा घर के आंगन से बाहर नहीं निकल रहे थे।

उनका भय कुछ हद तक उचित भी था। वह महिला खतरनाक है। आप अक्सर उसे देख सकते हैं, कभी इस चौक पर तो कभी उस चौक पर, कभी इस मुहल्ले में तो कभी उस मुहल्लेमें, पगलाई-सी भटकती रहती है न जाने किस की तलाश में...!

मांग में सिंदूर, माथे पर बड़ी लाल बिंदी, कभी-कभी उसी पर एक छोटी काली बिंदी, होठों पर सस्ती लाल लिपस्टिक, होठों के साथ-साथ फैली सी, चेहरे पर पाउडर की बदरंग परत और भूरे-भूरे बालों की जटाएं, कई-कई दिनों से कंघी के लिए तरस गई।

फिर भी अनाकर्षक नहीं। गोरा चिट्टा रंग. 36"–24"–36" का सुडौल शरीर, अच्छा खासा कद। कहीं कोई कमी नहीं। फिर भी गली कूचों में पगलाई-सी भटकती हुई।

जहां चार लोगों को खड़ा देखेगी, उनके के बीच जा पहुंचेगी। चेहरे पर मुस्कान लाएगी, एक हाथ फैला देगी, आंखें आंखों में डाल देगी और खड़ी रहेगी बस खड़ी रहेगी। दस बीस पैसे लेकर टलेगी कहीं...।

वैसे भी वह भिखमंगी नहीं मनोरोगी है, सिजोफ्रेनिया और मेनिया का मिला-जुला रोग। कभी बिल्कुल शांत ठण्डी निरीह तो कभी दबंग जुझारू और खूंखार बिच्छु के तीखे डंक जैसी। अनेक उलझी भावनाओं का जाल है वह, निरीह इतनी कि देख कर आदमी रो पड़े, गालियां इतनी तीखी और नंगी की सुनकर आदमी तिलमिला उठे। हरकतों की ऐसी गड्डमड्ड कि पलभर पहले उसे देखकर ठहाके लगाता काला चमकता चहकता चेहरा अगले ही क्षण दहशत से ज़र्द हो उठे और सिर बचाने के लिए भाग खड़ा हो, जब पत्थर उठा कर लपकती है तो किसी का लिहाज नहीं करती। स्थिति यह कि आप निश्चित ही नहीं कर पायेंगे कि उसे देखकर लुत्फ उठाएं या उस पर तरस खाएं, उसे उक्सा कर ठहाके लगाएं या उससे सिर बचाएं। जब अचानक ही उसकी आंखों का मोहक भाव दूर हो जाएगा तो जो भी उसके हाथ में

हो सामने वाले के सिर पर दे मारेगी, नंगी गालियां बकेगी, हाथापाई तक उतर आएगी और फिर उससे पीछा छुड़ाना मुश्किल हो जाएगा।

खूब रोमांटिक भी है वह और जब कभी मूड में हो तो किसी भी सड़क के किनारे खड़ी होकर राह चलते मर्दों को आंखें मार कर आकर्षित करेगी और यदि भीड़ जुट जाए तो बहक कर नाचने लगेगी, कभी किसी अकेले मर्द को देख कर बहुत करीब जा खड़ी होगी, इतना करीब कि सांस सांस से टकरा जाए और यदि वह भाग खड़ा हो तो हिलक हिलक कर हंसेगी और यदि वह मोहित-सा खड़ा रहे तो आंखें आंखों में डाल देगी, फिर भी डटा रहे तो बांह उसके बाजू में डाल कर अपने साथ-साथ घसीटने लगेगी।

वैसे यह अवसर कम ही मिलता है और जब मिलता है तो उसकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता, तब सुहागिन की तरह अठखेलियां करने लगती है, तब तो उसे न बाज़ार की चिंता होती है और न राह चलती भीड़ की। और मर्द बेचारा-सा न खुश होता है न झेंप पाता है, न सिर उठाता है न पांव, लज्जा से गड़ा जैसे सैंकड़ों घड़े पानी पड़ गया हो, खड़ा रह जाता है।

और उस दिन के बाद वह कई-कई दिनों तक अपनी खोली में बनी-ठनी उसी का इंतज़ार करती रहती है। दिन बीतते रहते हैं परन्तु उसे न लौटना था न लौटता है...जब नहीं लौटता तो वह फिर निकल पड़ती है, गली-कूचों में भटकती है और बाज़ारों में हंगामें शुरू हो जाते हैं।

उस दिन तो उसने कमाल ही कर दिया था। उसका चेहरा थाने की ओर था और मुख से नंगी गालियों के फव्वारे छूट रहे थे। काफी धमा-चौकड़ी मची हुई थी, लोग हो हल्ला कर रहे थे, आदमी

आदमी पर चढ़ा चटखारे ले रहा था। लोग उसे उकसा रहे थे, और वह बढ़ती भीड़ को देख-देख कर और अधिक बहकती जा रही थी, लहक–लहक कर गालियां बक रही थी।

निकलने का कोई रास्ता न था, गली के मुहाने पर वह खड़ी थी और लोग फंस कर रह गए थे, भीड़ जितनी आगे थी उससे कहीं अधिक पीछे। वह गुस्से से उफनती और पत्थर उठा कर लपकती तो भीड़ का रेला पीछे हटता, पीछे क्या हटता पीछे वालों को ऐसा धकेलता जैसे रेलगाड़ी का इंजन खाली डिब्बों को। और जब थाने की ओर लपकती तो भीड़ के वही खड़खड़ाते डिब्बे उल्टी चाल पकड़ लेते। यह क्रिया–प्रतिक्रिया बराबर ज़ोरदार थी और इसकी चक्की में आदमी आदमी को दल रहा था। भीड़ के इन पाटों में फंसे आदमी पिचक रहे थे, हालत खस्ता थी फिर भी वे मज़े में थे।

थाने के अहाते में कुछ सिपाही खड़े थे, सिविल ड्रैस में थके-थके से पारी से छूटे, मनोरंजन की फिराक में। वे उसे उकसा कर हंस रहे थे और गालियों का मज़ा लूट रहे थे। लेकिन यह तमाशा अचानक ही खतरनाक हो उठा था। उसने थोड़ा झुक कर बड़ा-सा पत्थर उठाया और एक सिपाही के सिर पर दे मारा...

थाने में हाय तौबा मच गई, सिपाही ने चीख कर सिर पकड़ा और जहां था वहीं बैठ गया, उसका झक्क सफेद स्वैटर खून से तर हो गया था और अन्य साथियों के तेवर बदल गए थे, डण्डे घुमाते हुए वे झपट पड़े थे और भीड़ आतंकित हो कर बिखरने लगी थी परन्तु वह सिपाहियों से लापरवाह रही थी, ज्यों की त्यों लहक-लहक कर गालियां बक रही थी बार-बार झुकती पत्थर उठाकर अपनी गठरी में भरती और कमर को हिचकोला देकर सीधी अकड़ जाती "अभी एक बार ही फोड़ा है,..फिर फोड़ूंगी... इस हरामी का सिर...फिर फोड़ूंगी।"

अहाते में हाय तौबा बरकार रही तो थानेदार बाहर निकला, सिर फुटोवल देखकर क्रोधित हो उठा फिर सिपाही को फटकारा "और कर अपनी मां से मसखरी...। और तुम क्यों लाल-पीले हो रहे हो अब...ले जाओ इस हरामी को पट्टी करवा कर लाओ...इस साली को मैं सीधा करता हूं।" और वह अहाते से बाहर निकल आया तो भीड़ भाग खड़ी हुई परन्तु वह उसी तरह बक रही थी कमर को हिचकोले देकर झूल रही रही थी।

"चुप बैठती है तू कि..." वह चीखकर उस ओर बढ़ा तो उसने भी पत्थर ताक लिया "...आ...आ...अब तेरा सिर फोड़ूंगी।"

पर इससे पहले कि वह पत्थर फैंकती थानेदार का चट्टाक सा थप्पड़ पड़ा और वह बिलबिला कर रह गई। अब वह गाल सहला रही थी और थानेदार की जीभ आग उगल रही थी..."ठोक दो हवालात में...बकती है तो जीभ खींच दो...नाचती है तो टांगें तोड़ दो...झूलती है कमर तोड़ दो...साल्ली की ..कितना खदेड़ो फिर आ धमकती है...।"

वह गाल सहलाते हुए रो रही थी और थानेदार उसे डरा-धमका कर लौट गया था। भीड़ फिर से जमा होने लगी थी।

बढ़ती भीड़ देख वह फिर बहक उठी और रोने लगी। रोते-रोते ही बकने लगी...जब नाड़ा...खींचता था रानी-रानी कहता था...जब नाड़ा...घिसे रिकार्ड की तरह बस यही स्वर बज रहा था और लोग ठहाके लगा रहे थे आसमान सिर पर उठा रहे थे।

जब थानेदार से नहीं रहा गया तो बौखला कर बाहर निकला, "पकड़ लाओ...इस हरामज़ादी को..."। परन्तु जहां था वहीं खड़ा रह गया।

वह चिल्लाई..."ले ले...थूक दे...थूक दे...इस पर।" और उसने सलवार खोल दी।

बेचारा थानेदार। दौड़ कर अंदर जा घुसा। भीड़। दुम दबा कर भाग खड़ी हुई और वह...न जाने कब तक नंगी नाचती रही... झूलती रही लहकती रही...वहकती रही...

पाल अभी तक अपने डर में डूबा हुआ था और यादव धीरे-धीरे संयत होकर चहकने लगा था, "हमारे वहां होती तो लोग उठा ले जाते इसे।"

"क्यों?" चौंक उठा था पाल। "क्या करते इस पागल का?"

पागल-पागल नहीं है...छिनाल है साली। लड़के मजा लूटते और क्या करते इसका?"

पाल हंस दिया, "तो यहां नहीं लूटते होंगे? पर अपनी इज्जत सहेज कर। शहर है न भेड़ियों की तरह घात में रहते होंगे...वैसे भी पल्ला झाड़कर पीछे पड़ जाए तो खैर नहीं..."

"हां भाई लगता तो ऐसा ही है। मेरी उंगलियां तो अभी तक पीड़ा कर रही है साली के नाखून बहुत तीखे हैं..."

"लगता है किसी खास आदमी की तलाश में हैं, भूले से तुम्हें पकड़ बैठी।"

"होगी...वैसे बुरी भी क्या है अगर नहला धुला दिए जाए तो... यादव चहका।

"हां-हां तुम्हारे जैसा कद्रदान नहीं मिला उसे...कहो तो करूं अम्मा से बात" पाल ने उसे कोंच दिया।

परन्तु वह तो काफी हठी निकला, "यहां अम्मा भी कुछ नहीं" कर सकती...पूछती थी लड़की गोरी चिट्टी चाहिए या साफ सुथरी ? मैंने कहा "साफ सुथरी" तो वह झेंप गई।

तो और क्या करती ? उसके पास साफ सुथरी कहां से मिलेगी ? "जो हो उसे तो बाबा चख लेते हैं और वह रिश्ते ही रिश्ते की आड़ में अपना सुहागपुड़ा संभाले बैठी है।" पाल ने ठहाका लगाया।

अब वह दोनों हल्के हो गए थे और जो थोड़ी बहुत आशंका थी उसी को छिपाने के लिए पाल ने चेहरे पर कच्ची पक्की बुजुर्गियत ओढ़ ली थी और यादव ने कोट के कॉलर उठा लिए थे, कॉलरों में गर्दन को छिपाए झुका-झुका सा वह पाल की ओट में चल रहा था। वे धीरे-धीरे सड़क पर आ गए थे।

दोनों चोर-निगाह से उसी महिला को ढूंढ रहे थे और खुद इस पैंतरे पर थे कि जैसे ही वह उनके पीछे भागे वे "यह गए वह गए" हो जाएं।

"यहीं थी वह" यादव ने इशारा किया।

वे काफी दूर थे, भागती भी तो पकड़ न पाती।

"वह रही...वही है न।" पाल को टहोका लगा तो उसने निगाह भर कर देखा, वही थी। पीठ उनकी ओर थी और वह चौक वाले ढाबे की ओर मुंह किए खड़ी थी।

वही लाल गुलाबी साड़ी, फीके पीले रंग का ढीला सा मैला हो गया ब्लाऊज, बाल तराशे हुए मिट्टी से भरे भूरे-भूरे जटाएं बन रहे। उसकी कुहनी में कपड़ों की गठरी लटकी थी और वह ढाबे के ग्राहकों को ताक रही थी।

ढाबे का मालिक कुर्सी पर था और कारीगर तंदूर पर रोटियां लगा रहा था। कुछ ग्राहक बैठे खा रहे थे कुछ इंतजार में थे। कुछ नये ग्राहकों को पुकार रहे थे। और वह ढाबे के सामने जमी खड़ी थी, फूहश इशारा करती और किलक उठती, कारीगर गर्म सलाख लहराता तो झिझक कर पीछे हटती और फिर वहीं जा पहुँचती।

नौकर उसे देखते परस्पर आंख मारते और मालिक की निगाह बचा कर हंस देते, उनका व्यवहार उसे शह दे रहा था...और वह जमी खड़ी थी फिर अचानक झुकी भुरभुरा सा कंकड़ उठाया और ढाबे के अंदर दे मारा, "निकाल, इसे निकाल.. इसकी बोटी-बोटी कर दूंगी... यही है.. इसका सिर फोड़ दूंगी।" वह लपक-लपक कर बढ़ रही थी और ढाबे में हडकम्प मच गया था। ज़ोर से फैंके भुरभुरे कंकड़ की मिट्टी टेबुलों पर बिखर कर थालियों में पड़ गई थी। ग्राहक हड़क कर थालियां छोड़ उठे थे, कुछ से कहा-सुनी हो रही थी तो कुछ से मिन्नत-मनोवत। कुछ फिर से बैठ गए थे तो कुछ भाग निकले थे।

लेकिन वह वैसे ही लपक-लपक कर बढ़ रही थी। ढाबे वाला आग बबूला हो रहा था कि तभी कारीगर ने गर्म सलाख खींच मारी, सलाख उसके हाथ पर लगी। कुछ चोट तो कुछ जलन से वह बिलबिला कर पीछे हटी...और कंकड़ उठा कर फैंकने की अपेक्षा गठरी में भरने लगी।

वह झुक कर कंकड़ उठाती, कमर को हिचकोला देकर उठ खड़ी होती। इस हिचकोले से उसके ढीले ब्लाउज में छिपा वक्षस्थल उछाल उठता। वह फिर कंकर उठाती फिर वक्ष उछलते...कंकर...वक्ष...वक्ष ...कंकर...लोग देख-देख कर सुलग रहे थे और सुलगते हुए भी ठहाके लगा रहे थे...

"चलो यार...अब कोई डर नहीं...साली बेकार ही फंसा रही थी।" पाल ने कहा और अपने ऊलजलूल भय पर ही हंसने लगा, "मुझे तो लगा था, यह आफत ज़रूर हड्डियां तुड़वा देगी..." फिर उसने यादव के कान में कुछ फुसफुसाया तो वह भी चहक उठा, "अच्छा फिर तो हम दोष-मुक्त हैं...अब इसकी क्या चिंता...डोलती फिरे बेशक ...आंखें मारे, हाथ पकड़े, बाजू में बाजू डाले हमें क्या? हमारे मत्थे तो कुछ नहीं मढ़ सकती...कोई नहीं पकड़ सकता हमें. हम भी अब नगर के सभ्य सम्मानित नागरिक हैं...निश्चिंत खाते पीते सोते जागते घूमते टहलते...।"

उन दोनों की खुशी का ठिकाना न था और वे जशन मनाने के लिए चाय की दुकान में घुस गए थे।

यादव ने कोट का कॉलर नीचे कर लिया था, बटन खोल लिए थे और उसका झक्क सफेद स्वैटर निगाह के सामने था।

यह वही स्वैटर था, जिसे उसने पकड़ रखा था जैसे बुनती पहचान रही हो फिर अचानक उसके तेवर बदले थे और वह उसे गले से पकड़ कर झूलने लगी थी, न जाने उसके हाथ में कितनी ताकत आ गई थी कि यादव झूल उठा था...आंखें बाहर निकलने को थी, चेहरा ज़र्द हो उठा था.

और वे आंधी में फंसे सूखे पत्तों की तरह उड़ निकले थे...। वह आंधी ही थी...लज्जा की...भय की...मार पीट की...पकड़ो-पकड़ो की...आंधी और वे आगे-आगे भाग रहे थे आंधी पीछे-पीछे दौड़ रही थी...

पाल ने उसका स्वैटर छू कर रहा, "यह स्वैटर ही फसाद की जड़ है, देखा नहीं, उसने ढाबे में भी कंकड़ मारा तो सफेद स्वैटर वाले को ही...।"

"कोई जा चढ़ा होगा सफेद स्वैटर वाला...डोलती फिरती है सोलह सिंगार किए हुए...शायद उसी को ढूंढ रही है।"

"हां जिस रोज मिल गया न। कच्चा चबा जाएगी उसे। तुम्हें ही कहा छोड़ रही थी "

उस दिन वे शहर के खास चौक में खड़े अलग-अलग मुहल्लों में बिखर जाने वाले थे तो वह आ टपकी। पहले हाथ फैलाया फिर सबके बीच आई। चेहरे पर मुस्कराहट, आंखें इनकी आंखों में जमा कर खड़ी थी वह और वे जेबों में फुटकर ढूंढ रहे थे।

"यही देगा कुछ...मालदार आदमी है...।" तभी किसी राह चलते ने उसे उक्सा दिया तो वह पाल की बगल से निकल कर यादव के ऐन सामने जा खड़ी हुई और उसका स्वैटर पकड़ लिया, और देख-देख कर हंसने लगी, "यही तो है...यही बुना था मैंने।" और हंसते-हंसते ही वह पगला गई, "पकड़ लिया न। अब तो नहीं भागोगे। नहीं भागोगे न।" और फिर हंसते-हंसते रोने लगी, "कहां भाग गया था तू।" बिलखते-बिलखते ही उसकी पकड़ सख्त हो गई थी "अब नहीं जाने दूंगी...भाग कर तो दिखा।"

यादव हतप्रभ-सा खड़ा था और पाल ने जान छुड़ाने की नीयत से कुछ फुटकर बढ़ाई थी-"ले और जा।" परन्तु उसने थूक दिया, "मुझे नहीं चाहिए यह। यह मेरा आदमी है...भाग गया था...यह देख... यह स्वैटर मैंने बुना था...कहता है मैं पागल हूं...पागल हूं मैं? बोल ...बोलता क्यों नहीं...पागल हूं मैं?" वह उसे गले से पकड़ कर धक्के दे रही थी झुला रही थी उसे।" चल...घर चल...तब तो नंगी छोड़ कर भाग निकला था...अब भाग...।"

वह यादव को छोड़ नहीं रही थी। यादव का गला घुट रहा था, आंखों की कोरें भीग उठी थी...चेहरा दहशत से ज़र्द था और पाल आतंकित था। भीड़ बढ़ती जा रहा थी...भीड़ और आतंक में घिरे घिरे ही पाल ने उसे झिंझोड़ कर गला छुड़ाया तो उसने हाथ पकड़ लिया "नहीं छोड़ूंगी...आज नहीं छोड़ूंगी...भाग जाएगा।" उसने यादव की उगलियों में तेज़ नाखून गड़ा दिये थे। उसका चेहरा पीड़ा से विद्रूप हो उठा था।

भीड़ बढ़ती जा रही थी। दोनों की सिट्टी-पिट्टी गुम थी कि तभी-तभी पाल का ज़ोरदार चांटा उसके गाल पर पड़ा, बिलबिला कर पीछे हटी, हाथ छूट गया था। पाल दुबारा लपका तो वह भी लपक पड़ी। "मेरे पेट में इसका बच्चा है...इसका बच्चा है मेरे पेट में...।" वह चिल्ला रही थी...। और इनके पांवों के नीचे ज़मीन नहीं थी दोनों के चेहरे ज़र्द थे, कुछ सूझ नहीं रहा था।

"पकड़ो पकड़ो...सालों को..।" भीड़ चिल्ला उठी तो वे भाग खड़े हुए। पता नहीं उनके सिर पांवों सिरों पर...पकड़ो... पकड़ो" उनके पीछे थी और उनका दम फूल रहा था...

परन्तु अब वे खुशी से फूले जा रहे थे...क्योंकि...उसका पेट फूला हुआ नहीं था...







